नया युग
नई धरा
नई धारा

हिन्दी और उर्दू कविताएँ

राधेकान्त दवे



रचनाकार एवं संग्रहकर्ता

राधेकान्त दवे

एम० ए० (संस्कृत), एम० ए० (हिन्दी),
एम० ए०, पी० एच० डी० (भाषाविज्ञान),

112 पार्क लेन, Ithaca, N-4
14850 (यू० एस० ए०)

कम्पोजिंग, प्रूफ़रीडिंग तथा फॉर्मेटिंग
द्वारा

वसीम अहमद

एम० ए०, बी० एड०
लखनऊ, उत्तर प्रदेश
भारत

नया युग
नई धरा
नई धारा

हिन्दी और उर्दू कविताएँ

राधेकान्त दवे

संक्षिप्त परिचय

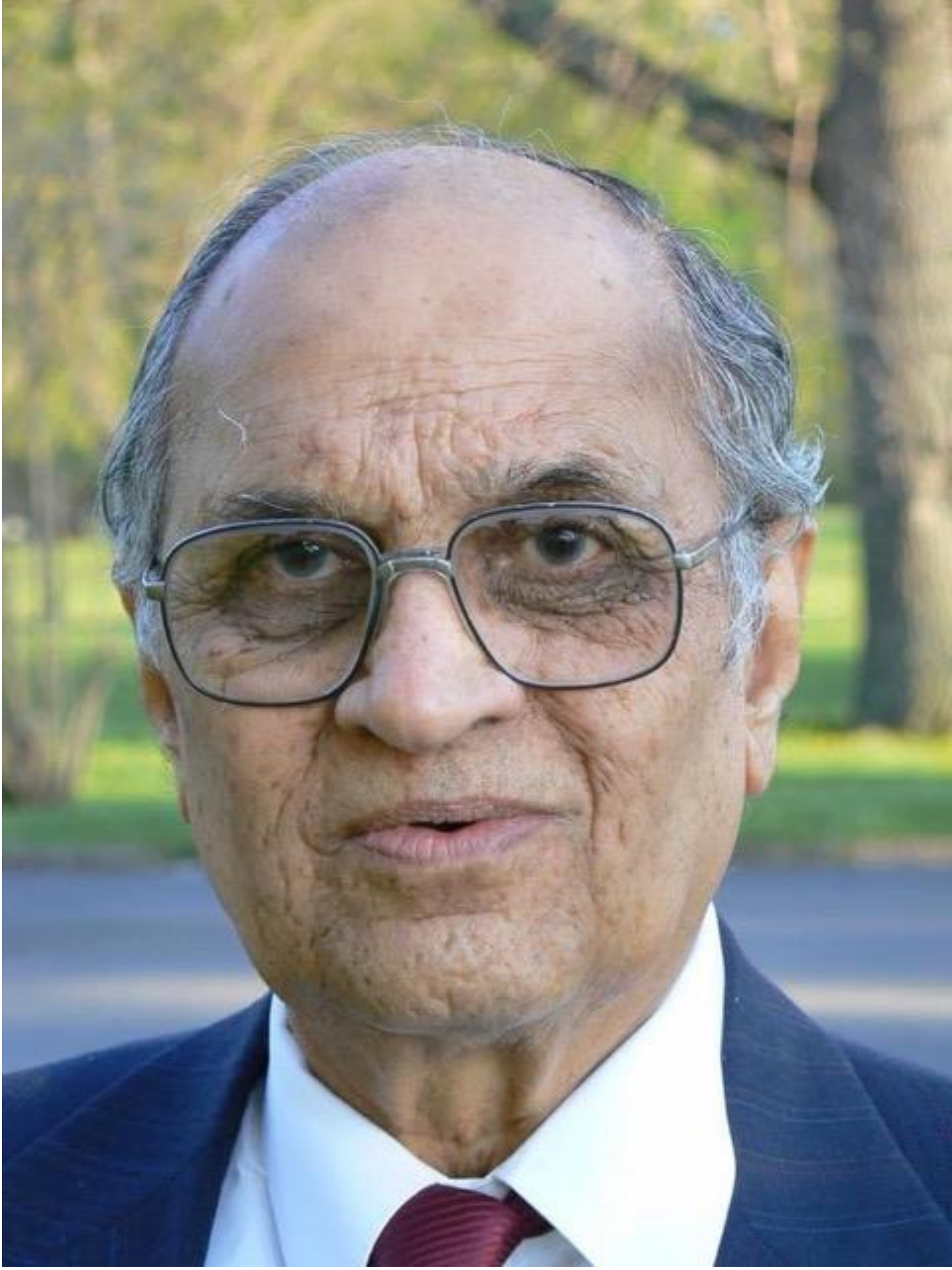
नाम: राधेकान्त दवे

जन्म व जन्मस्थान: १९२८ ई० में पड़धरी, गुजरात भारत।

शैक्षिक उपाधियाँ: एम० ए० (संस्कृत), एम० ए० (हिन्दी), एम० ए०, पी० एच० डी० (भाषा-विज्ञान), राष्ट्रभाषा रत्न, जर्मन और डेनिश से सर्टिफिकेट प्राप्त, राष्ट्रभाषा प्रचार समिति (वर्धा) से सर्टिफाइड शिक्षक।

शिक्षण, शोध एवं संपादन: पूर्व सदस्य हिन्दी अभ्यासक्रम समिति और सेनेट एस० एन० डी० टी० महिला विश्वविद्यालय, पूर्व हिन्दी शिक्षक कोपनहेगन यूनिवर्सिटी (डेनमार्क), पूर्व टीचिंग फेलो भाषाविज्ञान व पूर्व शोध सहायक साउथ एशिया प्रोग्राम कर्नल यूनिवर्सिटी , पूर्व हिन्दी प्राध्यापक महिला कालेज भावनगर गुजरात, हिन्दी पाठ्य-पुस्तकों के पूर्व लेखक-संपादक।

पुस्तकें एवं अनुवाद: श्री विष्णु प्रभाकर के हिन्दी उपन्यास "कोई तो" का गुज राती अनुवाद (प्रकाशित), विविध पत्रिकाओं में गुजराती, हिंदी तथा उर्दू कविताओं का प्रकाशन, गुजराती कविताएं "जीवननां गाणां" (२००७ में प्रकाशित) , २००५ तक लिखी हुई हिन्दी-उर्दू कविताओं की पाण्डुलिपि " नया युग नई धरा नई धारा", २००७ के बाद लिखी हिन्दी गुजराती कविताएं (अप्रकाशित)।



राधेकान्त दवे

कविता कभी खाली नहीं होती,
यदि खाली है तो वह कविता नहीं होती,
कविता कभी खाली नहीं होती

सेहरा

हिन्दी हमारी राष्ट्रभाषा है। यह हमारी संपर्क भाषा अर्थात् हम भारतवासियों को परस्पर जोड़ने वाली Link Languageहै। अभी तो हिन्दी अपना रूप और आकार ले रही है। पूरे भारतवासियों के योगदान से इसका स्वरूप निखर उठेगा। इसी के साथ-साथ हिन्दी साहित्य भी समृद्ध होगा। इस दिशा में मेरा यह कविता-संग्रह एक नम्र प्रयास है। आशा है इसका स्वागत होगा।

इस कविता-संग्रह में मेरी हिन्दी कविताओं के उपरान्त कुछ उर्दू कविताएँ (देवनागरी में लिखित) भी हैं। इसके साथ ही कतिपय वैदिक सूत्रों के और बाँगला,मैथिली, पंजाबी और गुजराती कविताओं के अनुवाद भी हैं। बाँगला, आदि भाषाओं के गीत उनके मूल स्वरों में गाये जा सकते हैं। अन्त में कुछ नोट औ पादानुक्रम (Concordance)भी दिये गये हैं।

यहाँ मैं हिन्दी कविता (और साहित्य की) भाषा, देवनागरी लिपि एवम् कविता में उपयुक्त छन्दों पर कुछ विचार प्रस्तुत करना चाहता हूँ।

कविता को सामान्य पाठकों तक पहुँचाना आज के युग की एक बड़ी आवश्यकता है। इसके लिए शीघ्र ही कुछ करना चाहिए। कवि-लेखकों की एक शिकायत है कि सामान्य पाठक साहित्य में रूचि नहीं रखते और कविता को तो बिलकुल पसन्द नहीं करते। दूसरी ओर सामान्य पाठक का यह कहना है कि साहित्य और कविता की भाषाशैली ही कुछ ऐसी है कि उनकी समझ में कुछ भी नहीं आता। वैसे भी कविता हमेशा कुछ अंश में तो टेढ़े ढंग से बात करती है, तभी तो वह कविता कहलाती है। फिर भी पाठक और कवि के बीच का अन्तर पाटने की आवश्यकता तो है ही। मैं यह मानता हूँ कि साहित्य और विशेषतया कविता की भाषा सरल, लोकगम्य और भाषा के अपने शब्दों अर्थात् तद्भव शब्दों से युक्त होनी चाहिए। और यह भी सहज और स्वाभाविक ढंग से होनी चाहिए, प्रयत्नज नहीं। (वैसे तो आज भाषा विज्ञान की दृष्टि से तत्सम और तद्भव के वर्गीकरण पर स्वतंत्र रूप से विचार किया जा सकता है, परन्तु व्यावहारिक दृष्टि से यहाँ हम इस वर्गीकरण को स्वीकार करते हैं।) हिन्दी के शब्द-भंडार (Lexicon)में जो तत्सम

शब्द घुलमिल गये हैं उनका प्रयोग तो हमें करना ही है। तब भी यह ध्यान में रखना है कि भाषा की पूँजी तद्‌भव शब्द होते हैं। प्रारंभ में ऐसी रचनाएँ अच्छी या शिष्ट नहीं लगेंगी, किन्तु शनैः शनैः भाषा की शक्ति में वृद्धि होगी। तद्‌भव शब्द भाषा की अभिव्यक्ति-शक्ति (Expression Power)को बढ़ाते हैं और उसे सोना बनाते हैं। साहित्य की भाषा यदि लोकभाषा के निकट नहीं जा सकी तो साहित्य और बोलचाल की भाषा की दो धाराएँ अलग-अलग चलेंगी। वैसे दोनों धाराओं में कुछ अन्तर तो रहेगा ही। तभी तो कुछ सदियों के बाद नई भाषा का 'जन्म' होता है। इसके बावजूद भी यह अन्तर हम जितना कम कर सकें, अच्छा है। यहाँ मैं इस बात को स्वीकार करता हूँ कि इस दिशा में मैंने विशेष प्रगति नहीं की है।

भाषा और भाषा विज्ञान की नई खोजों से आज हमें यह जानने को मिला है कि संस्कृत की गठन से हिन्दी की (और गुजराती की भी) गठन भिन्न है। संस्कृत समास-प्रधान भाषा है। हिन्दी वैसी संश्लिष्ट नहीं है। हिन्दी व्याकरण का रूप भी संस्कृत व्याकरण से भिन्न है। हिन्दी अक्षर का स्वरूप भी बदल गया है। हिन्दी अक्षर का एक उदाहरण देखिए : संस्कृत में राम शब्द दो अक्षरों का है। हिन्दी में देवनागरी लिपि में तो वह दो अक्षरों का ही है, पर बोलचाल की भाषा में वह एक अक्षर का है : राम् । संस्कृत में विभक्ति-प्रत्ययों का उपयोग होता है, जबकि हिन्दी में परसर्गो का (Postpositions)। संस्कृत की वर्णिक कविताओं को तुकान्त होने की आवश्यकता नहीं है, जबकि हिन्दी में तुकान्त की आवश्यकता है। कदाचित् इन सब कारणों से संस्कृत के अक्षरमेल या वर्णिक छन्दों में हिन्दी (गुजराती) में काव्य रचना में कठिनाई होती है। देवनागरी लिपि अक्षर प्रधान है। हिन्दी-गुजराती में लिपि (लिखित भाषा) और बोलचाल की भाषा में थोड़ी असंगति उत्पन्न हुई है। पर कविता पढ़ने वाला तो फिर भी उसको reading practiceके कारण ठीक ही पढ़ जाता है। यह उदाहरण देखिए :

उपेन्द्रवज्रा

संस्कृत : त्वमेव माता च पिता त्वमेव । (प्रपन्नगीता)
हिन्दी : बड़ा कि छोटा कुछ काम कीजै । (मैथिलीशरण)

संस्कृत श्लोक जैसे लिखा जाता है वैसे ही बोला जाता है। और लिखी हुई रचना जैसी है वैसी ही पढ़ने के अभ्यास के कारण हिन्दी कविता भी पढ़ने वाला वैसी ही पढ़ जाता है। परन्तु

उसकी अपनी बोली में तो कुछ की जगह कुछ् है, और काम की जगह काम् है। ''बड़ा या छोटा कुछ् काम् की जै ।''

संस्कृत कविता में अधिकतर वर्णिक छन्दों का प्रयोग होता था। ये संस्कृत की प्रकृति के बिलकुल अनुकूल थे। प्राकृत-अपभ्रंश काल के प्रारंभ में तो वर्णिक छन्दों में रचनाएँ हुईं, किन्तु बाद में मात्रिक छन्दों का प्रचलन बढ़ गया और वे कदाचित् प्राकृत-अपभ्रंश की प्रकृति के अनुकूल थे। दोहा, सोरठा, कुण्डलिया, चौपाई और कवित्त इत्यादि अनेक छन्द प्राकृत और अपभ्रंश में आये । इनकी लय वाले छन्द संस्कृत में नहीं मिलते। जिन्हें हम 'पुरानी हिन्दी' कहते हैं। उसकी दो मुख्य धाराओं में अर्थात् ब्रज एवम् अवधी में भी इन छन्दो में रचनाएँ होती थीं। (आज तो भाषा विज्ञान और व्याकरण की खोजों के कारण ब्रज, अवधी और बिहार तथा राजस्थान की भाषाएँ हिन्दी की बोलियाँ नहीं, पर स्वतंत्र भाषाएँ मानी जाती हैं।) खड़ी बोली हिन्दी को अभी दो सौ वर्ष हुए हैं। इसके कवियों ने भी मात्रिक छन्द अपनाये, पर साथ ही वर्णिक छन्दों में भी कविताएँ कीं ।

संस्कृत में लघु-गुरू विपर्यय की छूट सामान्यतया नहीं दी गई है। हाँ, कभी-कभी आवश्यकतानुसार अन्तिम लघु को गुरू मान लिया जाता है। केदार भट्ट के वृत्तरत्नाकर और गंगादास की छन्दोमञ्जरी के अनुसार वसन्ततिलका, इन्द्रवज्रा और उपेन्द्रवज्रा जैसे छन्दों के चरणान्त (प्रथम और तृतीय पाद के चरणान्त) में लघु-गुरू का विपर्यय हो सकता है। प्राकृत और अपभ्रंश में वर्ण-विपर्यय और मात्रा-विपर्यय की छूट है। अधिकतर तो मात्रा-विपर्यय होता है। हिन्दी के आधुनिक काल में द्विवेदी युग तक वर्णिक वृत्तों में रचनाएँ होती थीं, किन्तु उनमें कवियों को विशेष सफलता न मिलने के कारण छायावाद तक आते आते उनका चलन बन्द सा हो गया।

जब हम काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में एम० ए० के छात्र थे तब हमारे प्राध्यापक हमको यह कहते थे कि संस्कृत के छन्द गुजराती कविता के अनुकूल हैं, पर हिन्दी कविता के अनुकूल नहीं हैं। वास्तव में देखा जाये तो दोनों भाषाओं की कविता के अनुकूल संस्कृत के छन्द नहीं हैं। वर्षों से गुजराती में मात्रा-विपर्यय करने की छूट दी गई है। और ऊपर के परिच्छेद के अनुसार परिमित वर्ण-विपर्यय भी किया जाता है। मात्रा-विपर्यय को दोष नहीं माना जाता । वर्ण-विपर्यय की छूट नहीं है। कहा जाता है कि इससे कर्ण-कटुता आ जाती है। और वर्ण-विपर्यय काव्य दोष बन जाता है। परन्तु मात्रा-विपर्यय से भी कर्ण-कटुता तो आ सकती है। मुझे तो ऐसा लगता है

कि यदि हिन्दी गुजराती में वर्णवृत्तों में कविता करनी हो तो किसी भी छन्द में वर्ण-विपर्यय की छूट देनी चाहिए। मैं संस्कृत के वर्णवृत्तों में कदाचित् ही कविता लिखता हूँ। पर इस ग्रन्थ में एक-दो कविताएँ वर्णवृत्तों में भी हैं। मैने लघु-गुरू के नियमों का पालन नहीं किया है। इस दृष्टि से उसे काव्य-दोष माना जा सकता है।

यहाँ यह सब लिखने का कारण हिन्दी के अपने छन्दों की आवश्यकता की ओर भारपूर्वक संकेत करना है। यदि संस्कृत के वर्णवत्तों में रचनाएँ करनी हैं तो वर्ण-विपर्यय और मात्रा-विपर्यय की छूट के विषय में सोचना होगा। और इसका यति पर क्या असर होता है यह भी देखना होगा। वर्णवृत्तों में रचनाएँ करने से कविता की भाषा में तत्सम शब्दों की भरमार हो जाने की शक्यता की जाँच भी करनी होगी। किन्तु रचनाएँ हो सकती हैं और विरोध भी हो सकता है। जब इन्द्रवज्रा और इन्द्रवंश के प्रथम गुरू के स्थान पर किसी ने एक लघु का प्रयोग करके क्रमशः उपेन्द्रवज्रा और वंशस्थ की रचना भी होगी तब ऊहापोह तो हुआ ही होगा।

हिन्दी के अपने छन्दों के लिए हमें खड़ी बोली हिन्दी के लोक गीतों को भी देखना होगा।

हिन्दी के नये मात्रिक छन्दों की दिशा में किये गये एक प्रयोग से मैं अवगत हूँ : प्रो० हरिशंकर 'आदेश' ने अपने शकुन्तला प्रबन्ध-काव्य में (१९९७) लगभग १७ नये छन्द बनाकर उनका प्रयोग किया है। इस संबंध में अधिक जानकारी नहीं है।

मैं पिंगलशास्त्री नहीं हूँ। अपनी कविताएँ करते समय मेरे मन में कुछ प्रश्न उपस्थित हुए। उनके निराकरण के लिए मैंने जो कुछ पढ़ा उसके आधार पर अपने विचार यहाँ मैंने व्यक्त किये हैं।

कविता-लेखन में शब्दों का चयन, उपयोग और आयोजन, पद-विन्यास, वाक्यविन्यास, छन्द-योजना और व्याकरण के नियमों के सख्त पालन को Poetic Dictionकहते है। कविता का डिक्शन 'शिफ्ट' पांडित्य-पूर्ण और कभी कभी जटिल होता है। इसके विपरीत कुछ कवि डिक्शन के नियमों पर ध्यान न दे कर काव्य-रचना करते हैं। इनकी भाषा बोलचाल की भाषा के निकट होती है और बोलचाल की भाषा व्याकरण के नियमानुसार नहीं चलती। इनकी कविता छन्द-मुक्त भी होती है। इसे Free verse में लिखी कविता कह सकते है। ये कवि गद्य में भी कविता

(Prose Poem) करते हैं। इन कवियों की कविता में तत्सम शब्दों का स्थान कम होता है। और पूरा 'डिक्शन' मुक्त ढंग से चलता है। हाँ, 'कवित्व' तो होना ही चाहिए।

अब Diasporaपर कुछ विचार । डायस्पोरा शब्द का उपयोग सामान्यतया विदेश में बसने वाले (भारतीय-डायस्पोरा) साहित्यकारों के लिए प्रयुक्त होता है। अब तो यह शब्द रूढ़ हो गया है। पश्चिम के विद्वानों ने हमें अनेक नये शब्द देने की कृपा की है, और हमने उनको सहर्ष ग्रहण किया है। यहाँ इस शब्द का मूल अर्थ बताने की आवश्यकता न होने पर भी उसका अर्थ-संकेत कर रहा हूँ :

(१) बेबिलोन में निष्कासित यहूदी लोग। बाद में कोई भी यहूदी।

(२) Diaspora शब्द का डिक्शनरी में दिया गया अर्थ छोड़कर हम अपना मनमाना अर्थ नहीं ले सकते। Internationallyतो वही अर्थ है जो शब्दकोष में दिया गया है।

(३) इसी प्रकार का कोई भी यहूदी-क्रिस्तान (Jew-Christian)

हम भारतवासी न निष्कासित हैं, न विस्थापित। फिर भी, बेशक किसी भी शब्द को अपने वांछित अर्थ में लिया जा सकता है। मैं इस शब्द का अथवा "विदेश-निवासी भारतीय" शब्द-प्रयोग के लिए उत्साही इस लिए नहीं हूँ कि आगे चलकर डायस्पोराओं का अलग गुट या अलग ज्ञाति बनाये जाने की संभावना का डर है। ये साहित्य या कविता की प्रधान धाराएँ न होकर गौण धाराएँ भी मानी जा सकती हैं। वर्तमान और भावी साहित्यक संदर्भो के लिए और साहित्य के इतिहासों में भी इनका अलग स्थान हो सकता है।

नया युग, नई धरा, नई धारा कविता-संग्रह तैयार करनें में अनेक मित्रों और स्नेही-संबधियों का प्रोत्साहन और सहकार मिला है। कुछ नाम ये हैं : ओस्वेगो (न्यू योर्क) के सद्‌गत डॉक्टर दंपति ब्रिगेडियर जनरल रवीन्द्र और मंजुला शाह, मेरे सहाध्यायी और उज्जैन के प्राध्यापक शिव सहाय पाठक, सागर (म०प्र०) के सद्‌गत प्रो० प्रेमशंकर, सद्‌गत श्री० विष्णु प्रभाकर और मेरे परिवार-जन : कुसुम, आमिल और ज्योति। केनेडा के लन्दन निवासी कवि नवतेज भारती और सुश्री कवि सुरीन्दर भारती का भी सक्रिय सहयोग मिला है। सुरीन्दर जी ने अपनी कविताओं के अनुवाद-प्रकाशन की सम्मति भी दी है। धन्यवाद ।

इस संग्रह की कविताओं में और संग्रह की भूमिका में जो भी कमियाँ हों उनके लिए मैं उत्तरदायी हूँ।

अन्त में मैं अपने संस्कृत और हिन्दी के अध्यापकों का धन्यवाद करता हूँ : सर्व श्री पी० एम० मोदी और रतिलाल जानी (संस्कृत : भावनगर), आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, आचार्य सीताराम चतुर्वेदी, आचार्य चंद्रबलि पांडेय (हिन्दी : काशी) और आचार्य नंददुलारे बाजपेयी (हिन्दीः सागर), यह संग्रह उनको समर्पित है ।

मेरे माता-पिता श्री० वल्लभराम और काशी बहन को भी यह संग्रह श्रद्धांजलि के रूप में समर्पित करता हूँ। और भी उन सबको जिन्होंने अपने तईं प्रत्येक प्रकार से मेरी सहायता की है।

मेरी पत्नी कुसुम और पुत्र आमिल की सहायता के बिना मैं यह कविता लेखन और पांडु-लिपि तैयार नहीं कर सकता था। ये मेरे अपने ही हैं अतः उनको मेरा स्नेह समर्पित करता हूँ।

अपनी बयानी को मैं स्वर्गय 'अज्ञेय' जी के शब्दों में अन्त करता हूँ :

यों मैं कवि हूँ, आधुनिक हूँ, नया हूँ
काव्यत्व की खोज में कहाँ नहीं गया हूँ ?
चाहता हूँ आप मुझे
एक-एक शब्द पर सराहते हुए पढ़ें
पर प्रतिभा तो ------ अरे, वह तो
जैसी आपको रूचे, आप स्वयं गढ़ें।

राधेकान्त दवे
112 पार्क लेन, Ithaca, N-4
14850 (यू० एस० ए०)
ई-मेल : mikura333@gmail.com

अनुक्रम

हिन्दी कविताएँ

सृष्टि

घूमने को आकाश चला था
धूप-छाँह परिधान किये था
कपाल-कुंकुम-तिलक किये था
रक्तिम, स्वर्णिम स्वप्न लिये था
घूमने को आकाश चला था ।।

देखी तभी अचानक उसने
नवल-नवेली नारी, जिसने
श्याम-घूसरित देहलना पर
हरिताम्बर परिधान किया था ।
घूमने को आकाश चला था ।।

विश्वसुंदरी सजधज करती
पल-पल पर परिवर्तन करती
अंतरिक्ष का प्रांगण भरती
धरती ने अभिसार किया था ।
घूमने को आकाश चला था ।।

धरा देख मुस्काया अंबर
गगन देख हरषाई धरती
घनता से अवकाश मिला था
कविता से रसराज मिला था ।
घूमने को आकाश चला था ।।

बीत गया था एक ज़माना
जाने क्यों दिल हुआ बीराना
मिलने को मन मचल रहा था
अब बाती को स्नेह मिला था ।
घूमने को आकाश चला था ।।

मधुर मधुर मुस्काई धरती
शरमाई, सरसाई धरती
रस उसने ऊँडेल दिया था
परिमल से एक प्यार मिला था ।
घूमने को आकाश चला था ।।

नयन-नयन ने यों देखा था
वसुधा की लज्जा-लाली पर
आकाशी स्मित बिखर रहा था
रज का कण कण बिहँस रहा था ।
घूमने को आकाश चला था ।।

दोनों का हो मिलन चुका था
धरिणी को एक वेग मिला था
नूतन हो अवतीर्ण चुका था
पहला यों परिवार पला था ।
घूमने को आकाश चला था ।।

{१} १९५६

साँझ

साँझ सलोनी बेला ।
बिदा हुआ तटिनी-तट का लहरों का वह चल मेला ।
साँझ सलोनी बेला ।

नदिया में मछिया-सी नैया तिरती, सरकती, बहती
नैया में पंछिया-सी लुगैया फिरती, रूकती, तकती
सजीव बने सपने जिसके, क्या उसे अवेला-वेला ?
पैठ लगाई गहरे पानी, वह क्या कभी अकेला ?
शाम सुहानी बेला
साँझ सलोनी बेला ।

अग-जग की जागृत उन्मादी सुषुप्ति में अब परिणमती
दिन के जीवन की सुवर्णिमा शांत श्यामली को चूमती
दिनकर मौन ढला, चंदा ने फूल लिए कर बेला
तिमिर-तेज युग कहते हैं, सब चला चली का खेला
संध्या सुंदरनम बेला
साँझ सलोनी बेला ।

{२} दिसंबर, १९५६

वेदना का गान

वेदना का गीत गाऊँ आज मैं उल्लास से
मुखरित बने, प्रमुदित बने, यह विश्व आज हुलास से
कल्लोल की कारूण्य-धारा में खुशी बहती सदा
मेरी बसंत-बहार पतझड़-पीत-केशों में सदा ।।

चाँद था परिपूर्ण, पूनों थी गगनरानी बनी
मछुमास के मृदु हास से तारक बिखेरे चाँदनी
कलहंस चुगता स्वर्ग-गंगा में मधुर मुक्ताफली
जब श्वान दौड़ा, भोली हिरनी भाग उससे दूर चली
विहरे महा नभनाव में गुरूदेव गरिमा से यदा
तब एक थी घन श्याम की भी दृश्य में संगत बदा
वह चाँद, पूनम, चाँदनी, तारा, न जाने थे कदा ।
मेरी बसंत-बहार पतझड़-पीत-केशों में सदा ।

जब अस्त होता चाँद, फीका शुभ्र अंबर पीत था
चाँदनी के हास का जब हास में परिणाम था
टूटी पड़ी नवतारिका, नभ-टोकरे में जा छिपी
मानस सूखा, कलहंस उड़ा, श्वान ने हिरनी ग्रही
अमरावती में ज्ञान देने को बृहस्पति भी चला
तब शुक्र एक अड़िग निश्चल गौरवान्विन हो अड़ा
यह देख उषा स्तब्ध थी, रवि भी ठिठकता-सा खड़ा ।
मेरी बसंत-बहार पतझड़-पीत-केशों में सदा ।।

{३} नवंबर, १९५६

नोट : **कलहंस**- आकाश में दिखता हंस, **स्वर्ग-गंगा**- आकाशगंगा, **श्वान**- व्याध, **हिरनी**- मृगशीर्ष, **नभ-नाव**- पुनर्वसु, **गुरूदेव**- गुरू, **मानस**- आकाशगंगा, मन, **नवतारिका**- उल्का

रेखा और रंग
(स्वर्गीय बहन रेखा के लिए)

रेखा चित्र बनाती थी
दुबली, पतली, क्षीण देहिनी
रेखा चित्र बनाती थी ।।

चाहा था उसने मन ही मन
इसकी मैं तस्वीर उतारूँ
विहँस रहा है यहाँ बैठ जो,
नकशी उसकी महीन उतारूँ
पल-पल, नव-नव, चेतन, उन्मन
जीवन-चित्र बनाती थी ।
रेखा चित्र बनाती थी ।।

देख अचानक रूढ़ि गई, हाँ !
मुग्धमना, यह स्वप्निल नयना
स्वर्ण-प्रात की अरूण-वन्दना
सीमा बंधन से स्वतंत्र हो
अंतर के रसभाव-युक्त हो
कलम-कसब दिखलाती थी ।
रेखा चित्र बनाती थी ।।

चित्र अभी बनना था, पर
रेखा की गति को बंद मिले
हाय ! किसीकी वाह्य शांति पर

भीतर के अरमान जलें !
कोशिश सब बेकार गई
कुटिल रूढ़ि मुस्काई थी
रेखा चित्र बनाती थी ।।

कोई न उसके संग रहेगा?
इतने में, लो ! रंग आ गया
रेखा पर छा गया, लग गया ।
चित्र बड़ा यों सूक्ष्म बन गया
सीमा सीमा पर जा बैठी
प्राचीनता प्रगति करती थी ।
रेखा चित्र बनाती थी ।।

रेखा खुद ही रंग बन गई
सुषमा ही साकार बन गई
सीमा स्वयं विकास बन गई
रूढ़ि ही सुर-ताल बन गई
मधुर छवि अब उठती थी ।
रेखा चित्र बनाती थी ।।

रेखा चित्र बनाती थी
हष्ट-पुष्ट औ' सप्तरंगिनी
रेखा चित्र बनाती थी ।।

{४} १९५६

पछतावा

हार को जीत समझ बैठी
प्रीतम की अनुकूल प्रीत निर्बल की रीत समझ बैठी

रूठ-रीस बल खाती थी मैं
मुरझाती किन्तु मनही मन
अकड़ाकर थे ऐंठ गये वे
रह जाते मसोस अपना मन
कटुता छोड़ उन्हीं ने आके मुझे मनाना चाहा
अछरों पर स्मित-रेख रही
कंजुस मैं, उनका उदार मन भीतर भीत समझ बैठी
हार को जीत समझ बैठी

आ आ कर रूक जाते थे वे
भँवर चढ़ा लेती थी मैं
जा जा कर मुड़ आते थे वे
नयन फेर लेती थी मैं
अपराधों को भूल, उन्हीं ने अपनाना मुझको चाहा
बाँहें खुलके फैल रहीं
निर्बल मैं, सविवेक शक्ति को दुर्बल-भक्ति समझ बैठी
हार को जीत समझ बैठी

अपनी कमी गिनाते थे वे
क्षम्य सगर्व बनाती थी मैं
निज गुण सदा छिपाते थे वे

सद्गुण-शून्य समझती थी मैं
उद्धतता भूल उसने मेरी गगरी को भरना चाहा
मानस-गंगा बही रही
जड़ मैं, उनकी बसंत-सुषमा पतझर-पीत समझ बैठी
हार को जीत समझ बैठी

समानता अपनाते थे वे
ऊँची उड़ान भरती थी मैं
नासमझी से ना समझ रहे
जिनको चतुर समझती थी मैं
जड़ता भूल उन्हीं ने ऊष्मा मुझको देना चाहा
दीप की बाती जली रही
मृत मैं, उस चैतन्य स्निग्ध को मृण्मय शीत समझ बैठी
हार को जीत समझ बैठी

प्रणय-पत्रिका लिखते थे वे
फाड़ फेंक देती थी मैं
स्नेहसिक्त मधु वाणी रटते
ज़हर घोल देती थी मैं
विवाद, आग्रह, छोड़ उन्हीं ने संधि करना चाहा
मंजुल मुरली गूँज रही
जन्तु मैं, उनके विराट को कीचड़-कीट समझ बैठी
हार को जीत समझ बैठी

प्रेम-मीमांसा पूछ रहे वे
मीमांसक बन बैठी मैं
चातक-निष्ठा गुनते थे वे
दानी मेघ समझती थी मैं
द्वैत भूल, मन के अनन्य को एक रूप करना चाहा

भाव-सुगंधी फैल रही
छिक् ! तज मैं परिणीत प्रेम, पर को मनमीत समझ बैठी
हार को जीत समझ बैठी

मानव के पीछे चलते वे
दानव से खिंच जाती थी मैं
जीवन का नवनीत दे रहे
कूड़े से मन भरती थी मैं
हाय ! गमन में भी जीवन-पथ मुझे दिखाना था चाहा
सिक्ता में पद-रेख रही
मानवता के मनस-पुत्र की अब मन-क्रीत समझ बैठी
हार को जीत समझ बैठी

{५} १९५९

पूणें की मूला-मूठा नदी से

इतनी सुंदर लगती हो तुम
तुम्हारे पास कभी बैठ सका न मैं पलभर भी
जी भर के तुमको देख सका न मैं छनभर भी,
और कभी बैठा भी
जी उचटा उचटा रहता है
जाने को घर,
अध-जीव आता हूँ जो !
आधा मन रहता है उलझा
अपनी ही चिन्ताओं में,
सुखदुख के ताने-बाने में,
अपने ही बन्धन-मुक्ति में
अपनी ही जगती के
जैसे मकड़ी !
भँवर खुद ही डुबाना है अपने को !
....

इतनी सुन्दर लगती हो तुम
बिन आये नहीं रहा जाता तुम्हारे पास ।
ऐसा होता है मन में मेरे,
चहकता फिरूँ इन पंछियों की तरह
तुम्हारे जलाकाश में,
उड़ाने भरता रहूँ इन मछलियों की तरह
तुम्हारी जलगोद में,
करता रहूँ कल-कल नाद इन किनारों की तरह

तुम्हारे जल-स्वर में ।

किन्तु हाय रे मानव-जीवन !
फँसा ही रहता है अपने जीवन-जाल में !
आता ------- तो भी जाने को मन
लाता ------- तो भी आधा ही मन
कहता ------ तो भी अपना ही सुख
गाता ------- तो भी अपना ही दुःख
…………………

इतना दिव्य गाती हो तुम !
संमोहक सुरीला गूंजती हो तुम
मधुर मधुर मुस्काती हो तुम
हल्की सी बतियाती हो तुम !

यहाँ तो गान ही नहीं
अमृत की प्यास भी नहीं
जीवन की मुस्कान नहीं,
विषमय है जो मन !
गान तुम्हारे झेल सका न मैं अपने जी में पलभर भी
गान तुम्हारे कर सका न मैं प्रतिध्वनित छनभर भी ।
…………………

इतनी रूपसि हो तुम !
रूप की क्या गाथा गाऊँ !
लावण्य के क्या महल बनाऊँ !
तुम्हारे रूप के आवर्तनशील आस्फाल्ट का जल
इतना है पक्का,
कि मन मेरा मोम का मीन हो जाता है ।

जब मछुए को देखता हूँ अपना जाल बिछाते हुए
तुम पर,
(गोया वह तुमको पकड़ना चाहता है,
मछली को नहीं)
तो मन मेरा दौड़ जाता है जहाँ,
जल उठता है
इर्ष्या से,
हाँ !
मन-ही-मन मुझे लगता है,
जैसे मैं तुम्हें चाहने लगा हूँ
जैसे मैं तुम्हें चाहता हूँ ।
कितना विषम है यह प्रेम,
कितना असमान !
....

इतनी समर्पित लगती हो तुम,
गुणों की क्या गाथा गाऊँ !
उपकारों के क्या महल बनाऊँ !
तुमने तो किया आत्म-विसर्जन
जन-कल्याण हेतु,
पर कर न सका मैं स्वार्थ-विसर्जन पलभर भी !
तुमने तो बहाया,
पर बहा सका न मैं अपने अहं को छनभर भी !
तुमने तो दिया जीवन,
पर कर सका न मैं आत्म-दान दमभर भी !

{६} १९६४

हम

हम मछली हैं !
जो कि
हड्डी के काँटे में अपनी ही,
गला फँसा कर अपना ही,
तड़प रही है
अपने ही स्वाद के बंधन में
माछीमार ख़ुद मछली !
फंसी हुई ज़िन्दगी !
पड़ी है किनारे पर ख़ून से लथपथ
श्वास-हीन क्षण में !

हम मकड़ी हैं
जो कि
इर्द गिर्द बुनती है अपने ही,
चिकनाहट का जाल अपनी ही,
फंसती ख़ुद ही धागों में
अपने ही सुखदुःख के !
शिकारी खुद शिकार !
छटपटाती बेबसी !
लटकती अवकाश में शून्य, चेतन-हीन
मृत्युमय पल में !

हम तृष्णामृग हैं !
जो कि

चल-जल रचके अपना ही,
भागता पीछे छल के अपने ही,
भटक रहा है
खोज में अपने आप की ही !
आशा का मधु खेल
पानी स्वयं पियासा
हाँफ़ती मौत !
पड़ा ज़मीं पर, तप्त, श्रान्त, अशान्त
घन-तम-मय विपल में !

हम मछली हैं !
हम मकड़ी हैं !
हम तृष्णामृग हैं !

{७} नवम्बर, १९६८

उलझन

थक गया मन मेरा
गोधूलि के झुटपुटे में दीप न है अँधेरा
थक गया मन मेरा ।

ना अशान्त, आक्रान्त नहीं वह
राह भूला, दुभ्रान्त नहीं वह
लघु हो कर पाना विराट को,
तब भी हाँ ! उद्भ्रान्त नहीं वह
जाने कौन सी मोम-माया ने आज किया है बसेरा !
थक गया मन मेरा ।

साथ चला संसार है सारा
गूँज रहा इक गीत है न्यारा
लीला हेतु प्राण है प्यारा
मस्ती का मधुमय इशारा
आज अचानक कौन-सा कोना हो रहा है अकेला !
थक गया मन मेरा ।

{८} जून, १९७१

कहो, करोगी क्या तुम?

कहो, करोगी क्या तुम?
पहाड़ है, उसके पत्थर का महा कठोर हृदय है
उससे फूटता और मचलता छोटा सोत अभय है
सोते का पानी मीठा है, शीतल, पावनकारी
मंजुल स्मित है हल्का मुख पर, मौन-मुखर संगीत है
अरूप इक सोते को खारे सागर में मैं रख दूँ तो,
कहो, करोगी क्या तुम?

उपवन है, उसकी युगों की चार लौह-दीवारें हैं
उसमें खिलती परसवेल पर हिमकण की बौछारें हैं
मेघधनु के रंग मिले हैं, दैवी अनुभूति की तरंग
पारसमणियाँ छिपी हुई हैं परसलता के प्रेम-उछंग
सूक्ष्म एक मणि को ले कर लोहे को ज़ंग लगे छू दूँ तो,
कहो, करोगी क्या तुम?

युग है, उसकी गुफा एक अभिराम अजीब बनी है
अवगत मूल्यों के बंधन में आत्मा बंधी हुई है
पाश काटकर हर युग के, जो चिर कालिक नूतन है
पलता है वह उसी गुफा में नवयुग का सुन्दर है
नया एक जग को मैं दूँ गर सुन्दर नवयुग का पूरन तो,
कहो, करोगी क्या तुम?

{६} जून, १९७१

मन की माया

मन की माया का विस्तार
ईश्वर पर अध्यासित करके
क्यों उसको दुखियाते हो?

यह तो नहीं कहा है उसने, मैं हूँ, मेरी भक्ति करो
धूपदीप नैवेद्य धरो, मेरी पूजा, गुणगान करो !
यह भी नहीं कहा है उसने, मेरा पल पल स्मरण करो
ख़फ़ा होऊँगा वरना तुम पर, हरदम मुझसे डरा करो !
क्षति, निर्बलता का साकार
मन पर तुम अध्यासित करके
क्यों ईश को जन्माते हो?

यह तो नहीं कहा है उसने, 'ये मेरे पयगम्बर हैं
स्तुति-भक्ति जो करते उनकी, वे मेरे प्रिय होते हैं ।'
यह भी नहीं कहा है उसने, जो ना भक्त न आस्तिक हो
धर्मगुरू को जो ना मानें, उनको मत इन्सान कहो
अपनी श्रद्धा का अंधार
बुद्धि पर अध्यासित करके
क्यों उसको भरमाते हो?

यह तो नहीं कहा है उसने, यही धर्म है, यह अधरम
जो बनता बन्दी उसका, वह धर्मभीरू, उसके सुकरम
यह भी नहीं कहा है उसने, नीति-अनीति यह-वह है
जीवन के चिर सत्य मूल्य ये, और शेष संभ्रान्ति है

कल-अब का जर्जर संसार
नूतन पर अध्यासित करके
क्यों उसको कुम्हलाते हो?

यह तो नहीं कहा है उसने, 'युग को बदल नहीं सकते
जीवन के चिर नीति, धर्म, मूल्यों को ढूँढ़ नहीं सकते'
यह भी नहीं कहा है उसने, 'मुझको छोड़ नहीं सकते
मेरे बिन जीवन-मृत्यु का चिर तुम ढूँढ़ नहीं सकते'
इस-उस युग का बंधन भार
शाश्वत पर अध्यासित करके
क्यों उसको बिनसाते हो?

मन की माया का विस्तार
ईश्वर पर अध्यासित करके
क्यों उसको दुखियाते हो?

{१०} जून, १९७१

छाया और प्रकाश

एक बार प्रकाश ने कर लिया कैद परछाँई को । लगा दीं पाबन्दियाँ चारों ओर ! कहने लगा, मैं गोरा, तुम काली । मैं तेजस्वी, तुम श्री-हीन । यह समझ रखो कि रंगभेद और जातिभेद से छाँहों का छुटकारा नहीं । मैं प्रकाश, प्रकाश ही रहूँगा । तुम छाया, अंधकार की जाति की, छाया ही रहोगी, और मेरा कुछ भी बिगाड़ नहीं सकोगी । छाया कुछ न बोली, चुप रही ।

धीमे धीमे करवट बदली धरती ने । प्रकाश को भागना पड़ा । अप्रत्याशित ! छाया फैलने लगी । जहाँ जहाँ प्रकाश जाता, छाया वहाँ पहुँच जाती ! संपूर्ण प्रकाश को उसने अपने आक्रोश में ले लिया । आमूल क्रान्ति ! रक्त-हीन !

{११} १९८५

उलाहना

अरे दुग्धहीन स्तन !
लाज नहीं आती क्या तुमको
इस तरह
खुले आम
लटकते हुए पड़े रहने में
(देख रही हैं सब आँखें तुमको)
किसी निर्वीर्य प्राणी की तरह,
जब कि पड़ा है बच्चा बगल में तुम्हारी,
तुम्हारे दूध के लिए चिल्लाता?

कल तक भरे हुए थे तुम
और आज खाली !
अंत नहीं है तुम्हारी पाप-लीला का !
मानता हूँ,
तुम अति सुंदर हो,
अपनी मालकिन की तरह,
जिसके सीने पर चढ़ बैठे हो तुम
और तुम्हारा जोड़ीदार !
मानता हूँ
काले होते हुए भी
सुपात्र थे तुम मसले जाने के लिए कभी,
लेकिन इससे क्या?
भर सकोगे तुम अपने को दूध से
फिर एक बार?

और भर सकोगे तुम उस पेट को,
जो बैठा है तुम्हारे नीचे?
भर सकोगे क्या पेट उस बच्चे का,
जे पटक रहा है अपना सिर जमीन पर?

ओ अफ्रीका के स्तन !
ओ भारतमाता के स्तन !
ओ धरतीमाता के स्तन !
क्यों खाली पड़े हो इस तरह
लटकते हुए
खुले आम?
भर जाओ न फिर एक बार तुम
प्रेम और मानवता के दूध से
ताकि पा सके दूध
यह रोता हुआ, छोटा सा मानव-बच्चा !

{१२} सितंबर, १९८५

उत्तर-पूर्वीय अमेरिका के बन-प्रदेश में शरद्

तुम प्रकृति हो,
तुम मुक्त हो ।
तुम यहाँ की
इसी वन-प्रदेश की बाशिंदा हो,
तुम्हें अपने साथ ले जा कर क्या करें?
तुम्हें यहीं छोड़ जाते हैं !

बैठी हो अपना सुंदर मायाजाल फैलाती हुई,
और बैठी हो इस विराट प्रांगण को भूषित करती हुई
इन परिपूर्ण पत्तों के अनुपम लावण्य से
जी चाहता है,
तुम्हें यहाँ से ले चलें अपने साथ,
बाँध कर तुम्हें अपने स्वरों में
अपनी तूलिकाओं में
अपने कैमरों और कैम कॉर्डरों में
अपने शब्दों में !
परन्तु नहीं ।
तुम प्रकृति हो,
तुम मुक्त हो,
बन्दिनी नहीं हो सकती तुम किसी की
जैसे सरस्वती !
तुम्हें यहीं छोड़ जाते हैं ।

तुम यहाँ की हो

इस धरती की गोद में पली हो तुम
इस पृथ्वी पर ।
इस नील गगन के क्षितिज पर
एवम् उससे भी परे,
एक लघु रजकण से ले कर
विराट नीहारिका और पूरा ब्रह्माड
या सैकड़ों ब्रह्मांडों से भरा हुआ
महाब्रह्मांड है घर तुम्हारा !
फिर भी रहती हो इस पृथ्वी पर !
यहीं तुम सोती-उठती हो
सपने सजाती हो
रंगों को संवारती हो ।
यहीं होता है तुम्हारा नर्तन-गान
लास्य-तांडव !
यहीं है बसेरा तुम्हारा
अपने समस्त सिमटाव-बिखराव में ।
असंभव है तुम्हें बाँधना
स्थूल उपकरणों में, प्रिये !
सर्वतंत्रस्वतंत्र हो तुम
विश्व की उन्मुक्त वासिनी !
तुम प्रकृति हो
तुम मुक्त हो
तुम्हें यहीं छोड़ जाते हैं ।

{१३} अक्तूबर, १६८५

पत्रोपनिषद्

तुम शरद् हो, पतझड़ हो तुम
तुम पतझड़ हो, बीरान हो तुम
तुम बीरान हो, रंगीन हो तुम
कौन कर सकता है वर्णन
तुम जैसी अनुपम रूपकोशा का?
तुम-सी त्रिगुणातीत लावण्यमयी का?
अब इस पत्ते को ही लो न !
तुम्हारे दिल के तारों से गूँथा गया यह पत्ता,
पत्ते के तार-तार मेघधनु के रंगों से रंजित,
जिसको बनाने में लगायें हैं तुमने
सैंकड़ों कार्य-क्षण !
निकाल कर इस पत्ते को अपने दिल से
अपनी नक़्शीदारी की निशानी के रूप में
रख दिया है पेड़ से ज़मीन पर तुमने

याद है न तुम्हें
जो घटा था उपनिषदों के समय में?
एक अज्ञात तत्व का अचानक आगमन,
देवताओं का सलज्ज गर्वखण्डन,
भरी इनद्रसभा में !
उसी इतिहास का दुहराना मानो पतझड़ के इस पर्णोत्सव में,
एक अज्ञात पत्ते का अचानक आगमन,
जीवमात्र का सलज्ज गर्वखण्डन
भरी विश्व-सभा में !

जो भी आया उस पत्ते के पास
कवि हो या आर्षदृष्टा
मनुष्य हो या देवतात्मा,
अवाक् हो गया था इस अज्ञेय तत्व को देखकर
निर्निमेष !
जो आये स्तब्ध !
कौन है यह पत्ता?
कौन है इस पत्ते के पीछे?
यह पत्ता ....
फूट रही हैं रंगो की चिनगारियाँ
जिसके तन-बदन से,
निकल रही है उग्र तेज-धारा
जिसके अंग अंग से,
रचती हुई प्रकाश का एक प्रभा-मण्डल सा !
और इतने सारे पत्ते !
ये सब,
जैसे हैं तुम्हारे लेखरूप,
कर रहे हैं और सबको अपरूप !
इतनी सारी पत्र-सृष्टि
इतनी सारी रंग-सृष्टि
इतनी सारी तेज-सृष्टि
इतनी सारी लेख-सृष्टि

{१४} अक्तूबर, १९८५

नोट : यहाँ संदर्भ केनोपनिषद् का है ।

एक कबीर नहीं बना सकते?

रह रह कर पूछता हूँ तुमसे,
इतना बनाते रहते हो तुम,
इतना बनाते रहते हैं हम,
एक कबीर ही नहीं बना सकते?

पूछता हूँ लोगों से मैं,
जो हैं महान वैज्ञानिक
अविष्कारक,
नूतन तत्वों के निर्माता
पूछता हूँ मैं उनसे
जो हैं बड़े कारखानेदार
उद्योगपति
उत्पादक ।
पूछता हूँ मैं उनसे जो हैं शास्त्र-विशारद
धर्म-विधायक,
नीति-उन्नायक ।
पूछता हूँ मैं उनसे,
जो हैं क्रान्ति-विधायक
आमूल परिवर्तन के संवाहक ।
पूछता हूँ मैं उनसे भी,
जो हैं बड़े कवि
क्रान्तदृष्टा
अपनी सृष्टि के आप विधाता
नूतन सृष्टि के वैतालिक

इतना बनाते रहते हो तुम
एक कबीर ही नहीं बना सकते?

पूछता हूँ लोगों के ईश्वर से मैं,
जो कहलाता विश्व-विधायक
पाप-विमोचक
पुण्योद्धारक
नीति-धर्म का चिर संरक्षक
विश्व के अणु अणु का
सर्जक, उन्नायक, संहारक ।
इतना बनाते रहते हो तुम
इतना बना सकते हो तुम
मुझको बनाया
जग को भी बनाया, और
स्वयं को भी,
तब एक कबीर ही नहीं बना सकते?
यदि नहीं,
तो बंद करो अपना यह कारखाना
विश्वोत्पादन का
और बदल लो अपना नाम
अथवा कर लो आत्महत्या !
रह रह कर पूछता हूँ मैं तुम सबसे,
इतना बनाते रहते हो तुम
एक कबीर ही नहीं बना सकते?

{१५} नवंबर, १९८५

अणुबम की मनोव्यथा

आज यकायक
हो क्या रहा है मुझे?
यह दर्द कैसा?
जैसे पेट विलोड़ित हो रहा है ।
काँप रहा हूँ मैं,
समझ में नहीं आता, क्यों?
कलेजा छलनी हो जाता है,
एक शूल-सा उठता है सीने में,
जैसे विगलित हो रहा हूँ मैं,
भँवर उठ रहा है
पेट से आंत तक
दिल से दिमाग तक,
समझ में नहीं आता, क्यों?
इतनी बार गिरा हूँ जग पर
आज यह असमंजस क्यों?

लगता है ।
बेहोश हो जाऊँगा
गिर पडूँगा ।
लगता है,
छाती फट जाएगी
रज रज जल जाऊँगा
चाहता हूँ टूट पडूँ मैं विश्व पर
विस्फोट बन कर,

समझ में नहीं आता, क्यों?

सोचता हूँ :
गिरना ही है जब किसी जगह मुझे,
होना ही है जब नष्ट मुझे,
मिटाना ही है जब निजको मुझे,
क्यों न गिरूँ अपने बनाने वालों पर?
क्यों न मिटा दूँ अपने बनाने वालों को?
उन राजनीतिक नेताओं को?
उन विनाशकारी वैज्ञानिकों को?

{१६} नवम्बर, १९८५

मेरे अतीत की मृत्यु

१

दूर सुदूर
देखता हूँ अपना अतीत,
बढ़ रहा है मंथर गति से
वर्तमान की ओर ।
और देखता हूँ,
अचानक ही,
लुढ़क पड़ा राह में ही वह,
हो गई अकाल मृत्यु उसकी
पहुँचने से पहले ही
वर्तमान में ।

पहुँचाना था मुझे उसको भविष्य तक
वर्तमान को पार करके,
भावी के भी उस पार,
और करना था उसको कालमुक्त !
त्रिकालातीत !
बेचारा अतीत !
अफ़सोस !

२

अचानक कौंध गई एक बिजली-सी
मेरे मन में,
कहीं मैं ही तो नहीं मेरा अतीत?

यह निस्तब्ध स्थिति ....
यह जड़ दशा ....
सदियों से बैठा हूँ एक ही आसन लगाकर,
एक ही दिशा में ताकती-सी स्थिर आँखें !
क्हीं कोई छू दे हल्का-सा,
मुर्दे की तरह लुढ़क जाये मेरा शरीर
इस ढलान के नीचे ।
शायद मैं ही हूँ मेरा अतीत,
मरा हुआ !
जिसे पहुँचा न पाया भविष्य तक,
आरपार हो कर वर्तमान के !
जिसे पहुँचा न पाया मैं भविष्य के उस पार,
कालभुक्ति से कालमुक्ति की ओर !
शायद उसीकी लाश को ढो रहा हूँ मैं
अपने कंधों पर !

३

तब तो शायद क़त्ल कर डाला अपने
वर्तमान को भी मैंने !
बूढ़ा अतीत गया,
जवान वर्तमान भी चल बसा ।
क्या हुआ मेरे नवजात शिशु भविष्य का?
आह्वान करके देखता हूँ अश्विनी कुमारों का,
एक चम्मच आशा, विश्वास और दृढ़ निश्चय के
च्यवनप्राश का,
और जी उठेंगे फिर से तीनों कदाचित् !
मेरा अतीत, मेरा वर्तमान, और मेरा भविष्य !

{१७} जुलाई, १९८६

अमरिकन भाई से

भाई रे, अमरिकन मेरे !
साम्यवाद से डरते हो तुम,
ठीक है न?
हाँ?
डरना तो मैं समझता हूँ,
पर दूर भागना नहीं समझा,
नहीं समझा धिक्कार तुम्हारा ।
तुम कहते हो,
साम्यवाद शत्रु मानव का ।
मूड़ीवाद तब फिर क्या है?
साम्यवादी भी है तो कोश मानव,
जैसे हम-तुम ।

मुकाबला करने को तुमको साम्यवाद का
रहना होगा साम्यवाद के साथ,
और बदलना होगा उसको,
यदि तुम सच्चे हो अमरिकन,
भाई रे, अमरिकन मेरे !

अवैधता से क्या होगा, जी?
अवैध जितना, उतना, भाई !
मन में भूत पनपता रहेगा
साम्यवाद का !
बन्धु ! सुनो, जी !

तुम्हें रचाना होगा अमरिका में सच्चा लोकतंत्र
और मिटाना होगा दरिद्रता को,
विषमता को !
छोड़ो वादों के घेरे, रे !
बन जाओ तुम मुझ-सा मानवतावादी,
और बने रहो मानव !
मानवप्रेमी हैं हम, बन्दे !
शत्रु किसी के नहीं हो सकते,
भाई रे अमरिकन मेरे !

{१८} अक्तूबर, १९८६

हिन्दी के विद्वान

हम हैं हिन्दी के विद्वान ।
संस्कृत के ज्ञाता हैं हम, प्राकृत, सिंहल, नेपाली समान
हम हैं हिन्दी के विद्वान ।

हमने भी दो कोर्स लिए थे, डाक्टरेट जब करते थे,
भारत में भी हो आये संशोधन को, पा कर सम्मान
दिग्‌दिगन्त फैली है शान ।
हम हैं हिन्दी के विद्वान ।

बोल न पायें इससे क्या? पढ़ भी तुम लेते ही हो,
गठन तुम्हारी भाषा की है बन्द मुट्‌ठी में हमरी आन ।
करते सबको विद्यादान ।
हम हैं हिन्दी के विद्वान ।

काम पड़ा 'ग़र हमें तुम्हारा, लिखवाना कुछ अपने नाम,
हमरे घर आ के कर दोगे', युग युग से तुम रहे गुलाम ।
किताब पर भी हमारा नाम ।
हम हैं हिन्दी के विद्वान ।

फ़र्क़ बड़ा है तुममें, अमेरिकन छात्रों में, क्या जानो?
भेद कहीं कुछ तो करना है, समान फिर भी कुछ असमान ।
अच्छी तरह से लो ये जान ।
हम हैं हिन्दी के विद्वान ।

प्रकांड पंडित हम भाषा के, हैं वाग्मय-विजेता हम,
डाक्टरेट क्या, नौकरी भी दें, किस्मत के हम लेख समान ।
अनिवार्य हम, जैसे प्राण ।
हम हैं हिन्दी के विद्वान ।

क्यों न दौड़ते पीछे हमरी भारत के दिग्गज विद्वान ?
हमीं बुलाते उन्हें किसी मिस दिलवा के डॉलर का दान !
मत रहना इससे अनजान !
हम हैं हिन्दी के विद्वान !

{१६} नवंबर, १९८६

मृत्यु-सूक्त-१

हे मृत्यु देवता !
हम तुम्हारा आवाहन करते हैं
तुम आओ !
धन्य होंगे हम तुम्हें पा कर
कृतार्थ होंगे
तुम आओ !

वादा करते हैं,
निराश नहीं होना पड़ेगा तुम्हें,
लौटना नहीं पड़ेगा खाली हाथ तुम्हें
हमारे दर से ।
जैसे भी बनेगा,
दे देंगे तुमको सब कुछ हमारा ।
वचन है,
प्राप्य होगा यज्ञभाग तुम्हारा तुमको ।
बैठे हैं तुम्हारी प्रतीक्षा में
सदियों से
उत्सुक ।
हे मृत्यु देवता !
हम तुम्हारा आवाहन करते हैं,
तुम आओ !

{२०} फरवरी, १६८७

मृत्यु-सूक्त-२

मौत !
तुम हम पर सदा प्रसन्न रहो !
जाने क्यों
सदा नाराज़ रहा है यह जीवन हमसे
सदा रहा है लड़ता-झगड़ता यह हमसे,
हमारा अपना होने पर भी !
फिर भी कोई शिकायत नहीं की हमने ।
मूढ़ बालक यह जीवन !
मचलता रहता आजीवन !
किन्तु कभी न होगा झगड़ा हमारा तुमसे
हे सन्धि-विग्राहक !
मौत !
तुम हर पर सदा प्रसन्न रहो !

मौत !
बहुत बड़ा संग्राम लड़कर आये हैं हम
तुम तक,
खाये हैं थपेड़े जीवन के हाथों
अब तक ।
लाश हो गये हैं थक थक कर,
हारे नहीं हैं मगर,
सुलाओ अब अपने अंक में तुम हमें
पुचकार कर
दुलार कर !

हे निर्वाण दूत !
जागरण रहा जीवन भर
उनींदे हैं लोचन
प्यार से सुला दो लोरी गा कर मधुर ।
हे जगज्जननि !
सदा वरद हस्त रहे तुम्हारा हम पर
हो जायें हमारे तन-मन तुममय ।
हे चिर-शान्ति-दूत ।
तुम हम पर सदा प्रसन्न रहो !
मौत !
तुम हम पर सदा प्रसन्न रहो !

मौत !
कुलदेवि हे जीव-मात्र की ।
स्तुति करते हैं हम तुम्हारी
आराधना
उपासना
या देवी सर्वभूतेखु मृत्युरूपेण संस्थिता ।
तुम हो मृत्यु हमारी !
तुम ही महामृत्युञ्जयमंत्र !
तुम ही मृतसंजीवनीकवच !
हमारी रक्षा करो जीवन से,
मौत !
तुम हम पर सदा प्रसन्न रहो !

{२१} १९८७

मृत्यु-सूक्त-३

भावी के गर्भ से आने वाली ओ मेरी नवजात मित्र !
अतीत और वर्तमान के ताने-बाने से बुनी हुई
मेरे जीवन की नक़्शीदार कालीन पर
अपने पाँव रखने वाली ओ मेरी प्रिय मित्र !
मेरा यह प्रथम नमन स्वीकार करो ।

नहीं जानता, कहाँ से आ रही हो तुम
नहीं पूछता, कहाँ ले जा रही हो तुम
नहीं सोचता, किस धाम में बसती हो तुम
जानता हूँ, मेरा कल्याण निहित है तुममें
जानता हूँ, मेरा जीवन परिपूर्ण है तुममें
अक्षय मधुपर्क का संचय करने वाली हे मेरी उद्यमी मित्र !
मेरा यह प्रथम अर्घ्य स्वीकार करो ।

नहीं जानता, तुम मृत्यु ही हो या जीवन भी
नहीं पूछता, तुम बन्धन हो या मुक्ति भी
नहीं सोचता, तुम कराल हो या करूणा भी ।
जानता हूँ, मेरा अंतिम विकास है तुममें ही
जानता हूँ, मेरी परम सत्ता है तुममें ही
पुष्प-पुष्प से पराग चुनने वाली ओ मेरी भ्रमर मित्र !
मेरा यह प्रथम प्रणय स्वीकार करो ।

भावी के गर्भ से अमर संदेश लाने वाली ओ मेरी परम मित्र !
मेरी यह प्रथम भावना स्वीकार करो
भावी के गर्भ से मधुवर्षा करने वाली ओ मेरी उदार मित्र !
मेरा यह प्रथम समर्पण स्वीकार करो ।

{२२} जनवरी, १९८९

मन की बात

मन की बात बताता हूँ मैं
युग युग तक चुप रहा, आज
जन-जन का साद सुनाता हूँ मैं
मन की बात बताता हूँ मैं

ठहरो, जी !
यह कहाँ ले चले सारे का
सारा ही तुम आकाश बटोर कर,
झोली में अपनी तुम भर कर
फटी?
अरे ! यह कैसा दावा ?
कहते हो कि,
पहुँचे तुम सबसे पहले गगनांचल
पर, विराट के पंख लगाकर ।
किन्तु,
किसके पंख कुचल कर, और,
बता दो, किस किस को
धोखा दे दे कर ?
और समझ लो ।
परिश्रम के सीकर से सिंचित
हैं ये गगन-पुष्प सब हमरे,
चाँद, सितारे, सूरज, पृथ्वी,
नीहारिकाएँ, कण कण उज्ज्वल
हम सबके ये स्वप्न रँगीले ।
हटो यहाँ से !

सच कहता हूँ,
खाली करो झोली शांति से ।
एक फूल मैं चुन के रहूँगा
एक सितारा ले के रहूँगा
एक स्वप्न सच करके रहूँगा,
और भले कुछ भी हो जाये,
एक-एक चुन कर सुरभित, ये
पुष्प, गगन के हीरे, सच्चे स्वप्न
सभी को दे के रहूँगा ।

चाहे हो तुम साम्यवादी या
मूड़ीवादी, मानव या मानवतावादी
ईश्वर या जनतंतरवादी ।
सुन लो बन्धु ! कान खोल कर,
जन-शोषण हो नहीं सकेगा अब से,
तुमको आत्म-विसर्जन करना होगा ।

कवि हूँ कवि !
मैं क्रान्तिदर्शी हूँ
नवीन क्रान्ति सिखलाता हूँ मैं
शान्त स्वरों में लड़ता हूँ मैं
युग युग से चुप रहा, आज
जन-जन का साद सुनाता हूँ मैं
मन की बात बताता हूँ मैं !

{२३} मई, १९८७

देवी-स्तोत्र

कपड़े बदलो, माँ !
अच्छे नहीं लगते तुम पर ये वस्त्र
शोभा नहीं देते ।
तुम समझती हो कि,
सुंदर लगते हैं ये तुम्हारे सुंदर अंगों पर,
जाज्वल्यमान
जरी-किनखाब-मंडित
चमकीले, भड़कीले !
तुम समझती हो माँ ! कि
देते हैं ये तुम्हें सुछवि
उच्चता
अभिजात्य !
नहीं माँ ! नहीं
बहुत कुरूप लगती हो,
अत्यंत भद्‌दी
बेडौल !
बहकाया है भक्तों ने तुमको
सर्वसुन्दरी कह कर
देवी कह कर
जगन्माता कह कर !
तुम समझती हो, कि
देवी लगती हो तुम
आँखों को चकाचौंध कर देने वाले
इन कपड़ो में !

तुम्हारी समृद्धि के उद्घोषक
इन कपड़ों में ।
नहीं माँ ! नहीं
बहुत कुरूप लगती हो
अत्यंत भद्दी !

तुम्हारे बच्चों को देखो, माँ !
फटेहाल !
चीथड़े कपड़े !
लाज नहीं आती इन्हें देखकर तुमको?
देखो, ताक रहे हैं जैसे उनके अंग
तुम्हारी तरफ़
दीनता से ।
क्या ढँकने नहीं चाहिए ये अंग तुम्हें, माँ ?
यदि ढँक न सको तो,
क्या पहन भी नहीं सकती तुम
उनके-से कपड़े ! माँ ?
अगर नहीं तो,
उतार दो अपने कपड़े, माँ ।
कपड़े बदलो, माँ !
वादा करो कि,
जब तक कपड़े न मिले
तुम्हारे इन बच्चों को,
तुम भी रहोगी चीथड़ों में !
कपड़े बदलो, माँ !

{२४} सितंबर, १९८७

जीवन की लय

टूट गई जीवन की लय
आज हमारी महा साधना
पलभर में हो गई विलय
टूट गई जीवन की लय

ताल बराबर बजता था
तोड़ा भी उस्तादी था
परन परन पर चलता था
फिर भी क्यों कर चूकती रहती
इतनी सुगम सरल यह लय ?
टूट गई जीवन की लय

राग मधुमय गुंजन था
मध्यम लय आलापन था
गमक, मूर्च्छना-कंपन था
हुई तभी क्यों संवादी भी
विसंवादी में रह रह लय ?
टूट गई जीवन की लय

{२५} अगस्त, १९८८

समान अवसर देने वाले मालिक का गीत

मलिक हूँ, मालिक ! मैं
सबको समान अवसर देता हूँ
जो भी हो अधिकारी पद का
नियुक्त उसको करता हूँ

जब भी कोई जगह पड़े यदि खाली
योग्य व्यक्ति की करता हूँ रखवाली
अपना, अपनों का, या अपने दोस्तों का
जाना-माना, वही योग्य कहलाता !
फिर देता हूँ सभी जगह विज्ञापन
इन्टरव्यू के नियमों का भी पालन !
चुनता हूँ फिर अपना बन्धु
नाटक अच्छा रचता हूँ !
समान अवसर देता हूँ

कभी कभी यह भी है करना पड़ता
छिप छिप आसन भी है देना पड़ता ।
अगर योग्यतम हो कोई, विज्ञापन क्यों ?
चुपके से कर लो सब कुछ, ढिंढोरा क्यों ?
पिछले दरवाज़े से अंदर करता हूँ
कल-परसों फिर सबको सब बतलाता हूँ
सबके मुँह चुप रहते हैं
काम व्यवस्थित करता हूँ
समान अवसर देता हूँ

कभी-कभी तैयार किसी को करना
अपने गुट का देख समर्थन करना
तालीम दे कर इन्टरव्यु में बुलाना
फिर सबमें से उसको ही चुन लेना
नियम-मात्र का पालन मैं करता हूँ
कानून से सब संचालन करता हूँ
प्रमोशनों में यही करता हूँ
भेदभाव नहीं करता हूँ
समान अवसर देता हूँ

{२६} अक्तूबर, १९८८

षण्मुगम्

अगर रोना है तो षण्मुगम् के लिए रोओ
हाँ, षण्मुगम् के लिए !

कितने महायुद्ध लड़े हैं षण्मुगम् ने
कितनी लड़ाइयाँ लड़ा है यह षण्मुगम्
कितनी बार जिया है षण्मुगम्
कितनी बार मरा है यह षण्मुगम्
कितनी बार पाये हैं महावीर चक्र षण्मुगम् ने
कितनी बार पाये हैं परमवीर चक्र इस षण्मुगम् ने !
अगर रोना है तो षण्मुगम् के लिए रोओ
हाँ, षण्मुगम् के लिए !

षण्मुगम् तब भी लड़ा, जब भारत पराधीन था
षण्मुगम् तब भी लड़ा, जब भारत दो हुआ था
षण्मुगम् लड़ के ही रहा, जब बाँगलादेश बना था
षण्मुगम् लड़ के ही रहा, जब त्रासवादी घुस आया था
षण्मुगम् खड़ा रहा सदा सीना तान कर
षण्मुगम् खाता रहा सदा गोलियाँ बड़ी शान से
अगर रोना है तो षण्मुगम् के लिए रोओ
हाँ, षण्मुगम् के लिए !

विश्वयुद्ध शुरू हुआ कि वहाँ पहुँचा ही है षण्मुगम्
कोरिया में षण्मुगम् और वियतनाम में भी षण्मुगम्
दक्षिण अफ्रीका में भी षण्मुगम्, सुदान में भी षण्मुगम्

इराक में भी षण्मुगम्, पनामा में भी षण्मुगम्
विश्व का एकमात्र वीर षण्मुगम्
अन्याय का एकमात्र प्रतिकारक षण्मुगम्
अगर रोना है तो षण्मुगम् के लिए रोओ
हाँ, षण्मुगम् के लिए !

हिन्दी-तमिल की राजनीति में फँसा है षण्मुगम्
हिन्दी-उर्दू के भँवर में भाँवरें भरता है षण्मुगम्
फ्रेंच-फ्लेमिश के दलदल में फँसा है षण्मुगम्
स्पेनिश-अंग्रेज़ी के चक्रवात में उड़ता है षण्मुगम्
भाषाओं की भूरिधारा में बहता है षण्मुगम्
सबको समझाता, तिरता-डूबता है षण्मुगम्
अगर रोना है तो षण्मुगम् के लिए रोओ
हाँ, षण्मुगम् के लिए !

हिरोशिमा में बम पड़ा कि पहुँच गया षण्मुगम् वहाँ
धमाका हुआ नागासाकी में, हाज़िर हुआ षण्मुगम् वहाँ
षण्मुगम् पहले मरा, जब कुर्दों पर गैस फेंका गया
षण्मुगम् पहले मरा, जब वियतनाम में गैस फेंका गया
जब जब जहाँ जहाँ जंतुयुद्ध हुआ
षण्मुगम् ही पहले शहीद हुआ
अगर रोना है तो षण्मुगम् के लिए रोओ
हाँ, षण्मुगम् के लिए !

नारी जब निर्वस्त्र की गई थी, वस्त्र ले कर कौन पहुँचा था ?
अत्याचार हुए असहायों पर, जान की बाज़ी कौन खेला था ?
बच्चे जब बेचे गये, किसकी चीख़ से गगन गूँज उठा था ?
दरिद्रा जब घर घर भटकी, किसने उसका हाथ थामा था ?
समानता का शंखनाद किया, तो षण्मुगम् ने

स्वस्थ समाज की घोषणा की, तो षण्मुगम् ने
अगर रोना है तो षण्मुगम् के लिए रोओ
हाँ, षण्मुगम् के लिए !

षण्मुगम् सदा लड़ा आफ्रो-अमरिकनों के न्याय के लिए
वह सदा जूझा अमरिका के मूल-निवासियों के लिए
षण्मुगम् लड़ा दलितों के लिए, कभी पददलितों के लिए
वह सदा जूझा शोषितों के लिए, अभाव-ग्रस्तों के लिए
ज़िन्दादिल षण्मुगम् ! सब को नवचेतन दिया
आत्म-बलिदानी षण्मुगम् ! सब को नवजीवन दिया
अगर रोना है तो षण्मुगम् के लिए रोओ
हाँ, षण्मुगम् के लिए !

{२७} अगस्त, १९९०

षण्मुगम् रोएगा

षण्मुगम् रोएगा
षण्मुगम् बिलकुल रोएगा !
जब षण्मुगम् रोएगा
उसका रोना नहीं रुकेगा ।
षण्मुगम् रोएगा ।

सदियों से रोता आया है यह षण्मुगम्
अपने लिए
अपने परिवार के लिए
अपने परिवेश के लिए,
लेकिन कभी न रोया वह दूसरों के लिए,
स्वार्थी जो ठहरा ।
मगर, अब के षण्मुगम् रोएगा
बिलकुल रोएगा
और कस कर रोएगा,
दूसरों के लिए भी ।
षण्मुगम् रोएगा

कुछ लोग हैं,
जिनको मालूम ही नहीं
कि उनके पास है आँसुओं का खज़ाना ।
कुछ और लोग हैं,
जिनके आँसू पहुँच ही नहीं पाते
उनके हृदय से आँखों तक ।

कुछ ऐसे भी तो हैं,
जिनका हृदय सूख गया है सतही तौर पर
पर भीतर पड़ा है एक आर्द्र उत्स !
षण्मुगम् उनके लिए भी रोएगा
षण्मुगम् उनको भी रुलाएगा
षण्मुगम् उनको भी रोना सिखलाएगा ।
काँप उठेगा त्रिलोक उनके महाक्रन्दन से
त्राहि-त्राहि कर उठेंगे चौदह लोक उनके रौद्र रूदन से
नष्ट हो जाएँगें विश्व उनके अश्रुसागर के प्रलय-प्रवाह से !

षण्मुगम् रोएगा
षण्मुगम् कसकर रोएगा
जब षण्मुगम् रोएगा
उसका रोना नहीं रुकेगा ।
षण्मुगम् रोएगा ।

{२८} जुलाई, १६६०

जब षण्मुगम् जाएगा

जब षण्मुगम् जाएगा
बरबाद नहीं करेगा कोई अपने आँसू
अरे ! मालूम भी नहीं होगा किसी को
जब षण्मुगम् जाएगा ।

डंके की चोट जाते हैं वे
जो कहलाते हैं
बड़े लोग, महापुरूष, राष्ट्रनेता, महायोगी,
पताका फहरा जाते हैं दुनिया में अपनी वे ।
लेकिन जब षण्मुगम् जाएगा,
यह नहीं होगा ।
स्कूल-कचहरियाँ बंद नहीं होंगी,
मातम नहीं मनाएगा कोई,
दौड़ेगा नहीं उसके जनाज़े के पीछे कोई,
समाचार नहीं छपेगा किसी पत्र के कोने में भी,
आह भी नहीं निकलेगी
उसके अपने परिवार के दिल से भी !
सदा रहेगा षण्मुगम् अनामी !
जब षण्मुगम् जाएगा ।

लेकिन इससे क्या ?
जातियाँ नहीं बनतीं केवल महापुरूषों से
साधारण मनुष्य भी बनाते हैं जातियों को,
और अपना यह षण्मुगम् है एक साधारण मनुष्य !

खुशबू नहीं देता गुलाब ही अपनी पंखुड़ियों को,
पंखुड़ियाँ भी देती हैं खुशबू गुलाब को
और अपना यह षण्मुगम् है गुलाब की एक पंखुड़ी !
शान्त कोई सन्यासी जब
तहस-नहस करके चला जाता है
अपनी टूटी-फूटी कुटिया को भी,
हिमालय के किसी ग्लेशियर की चट्टान पर,
मालूम नहीं होता तब किसी को ।
मगर तब भी,
पाते हैं सब अनजाने में ही
उसकी मौन साधना की दिव्य सौरभ,
जो निखिल के साथ हो गई होती है
एकाकार !
और अपना षण्मुगम् भी है सन्यासी की एक
शान्त समाधि
निर्विकार !

जब षण्मुगम् जाएगा
कोई नहीं जानेगा,
किन्तु अनुभूति होगी सबको
उसके दिव्य चैतन्य की
विश्व के कण कण में ।
जब षण्मुगम् जाएगा ।

{२६} मार्च, १९८७

षण्मुगम् नहीं मरा

अच्छा ! तो षण्मुगम् नहीं मरा !
अद्भुत जिजीविषा है उसमें, बड़ी प्रबल !
पिछले पल उसका न अता था, न पता
हो गया था संपूर्ण विघटन,
विदीर्ण हो गये थे उसके अणु-परमाणु
जीवन के झंझावात में,
छोड़ दी थी सबने आशा उसके जीवित रहने की ।
किन्तु तूफान चला गया,
हुआ मुक्ताकाश,
और देखता हूँ तो,
जा रहा है षण्मुगम् उधर अपना सिर उठाये हुए ।
अरे ! तो षण्मुगम् नहीं मरा !

सर्दी का मौसम !
खूँखार, महाबलि बूढ़ा विन्टर !
मिटा देना चाहता है हरी हरी घास को
पीलिया का रोग लगाकर,
और षण्मुगम् है उस घास का एक तिनका ही !
विषम आँधी,
स्नॉ- ब्लीज़र्ड,
हाहाकार !
घास गई, षण्मुगम् गया ।
शीत गया, आया बसन्त,

अचानक ही,
जाने कहाँ से सर उठा के खड़ा हो गया
हरी घास का तिनका,
पीलिया-मुक्त !
जाने कैसे हुआ यह चमत्कार !
तो षण्मुगम् मरा नहीं !
अच्छा ?!

{३०} नवंबर, १६८६

नारी

स्वतंत्र हूँ, पर सहमी, सहमी !
समान हूँ, पर सहमी, सहमी !

त्रेता में झाँका, तो सीता खड़ी वहाँ निहार रही है
एकटक : टस से मस होने नहीं देती आदर्शों से है
ढकेल देती है बरबस वह ‘आर्यपुत्र’ के पीछे पीछे
जाने कहाँ चली जाती है पुरूषों की उफनाती गरमी
स्वतंत्र हूँ, पर सहमी, सहमी !

द्वापर में जाऊँ, गांधारी चक्षु पर पट्टी धरती है
बेची जाने पर भी पांचाली की सती-शिक्षा चलती है
सिखलाती दो युग की हैं सतियाँ मुझको खुद सहतीं सहतीं
जाने कहाँ कहाँ से आई पुरूषों की निष्कर्मी नरमी
स्वतंत्र हूँ, पर सहमी, सहमी !

जानूँ मैं, अपराध नहीं सीता का, वह युग ऐसा था
यह भी मानूँ, द्वापर भी सतियों का अपना एक समय था
युग बदला, बदले हैं युग के मूल्य, प्राण ना रहे रूढ़ि में
जाने कब तक बना रहेगा समाज यह मानव का जुल्मी
स्वतंत्र हूँ, पर सहमी, सहमी !

गृहसूत्रों को पढ़ बतलाते, देखो ! है यह स्त्री-मर्यादा
धर्मसूत्र पुष्टि करते हैं और कड़ी करके मर्यादा
दोष नहीं उनका, वे थे अपने युग-मूल्यों के ही पोषक
जाने क्यों ये लाद रहे फिर उस युग को हम पर सब मरमी
स्वतंत्र हूँ, पर सहमी, सहमी !

{३१} १९८९

अपनापन

वह तो मैं नहीं छोड़ सकता
जिससे मैं 'मैं' कहलाता हूँ ।
सिवा इसको,
तुम जो जो कहो,
सब छोड़ दूँ ।
और यदि सच कहूँ तो,
बचा ही क्या रखा है मैंने अपना ?
बचा हूँ केवल मैं !
वह तो मैं नहीं छोड़ सकता
जिससे मैं 'मैं' कहलाता हूँ ।

तुम तो जानते हो,
छोड़ी नहीं जा सकती इन्सान से
यही एक वस्तु,
जिससे वह 'वह' कहलाता है।
पहचाना जाता है शेर
शेरत्व की अनुभूतिदावक रेखाओं से ही,
और स्यार भी !
बात है प्राण-प्रकृति की,
स्वत्व की ।
निजत्व अलग, इन्सान अलग !
स्वत्व गया, इन्सान गया ।

और क्या बचा है मेरे पास मेरा अपना ?
बचा हूँ केवल मैं !
वह तो मैं छोड़ नहीं सकता
जिससे मैं 'मैं' कहलाता हूँ ।

{३२} मार्च, १९८९

खुद का खोना

खुद गया हूँ खो, अरे ! इस देश में

आज तक भ्रम में रहा, हूँ मैं सलामत
चौंक कर देखा, न मिलता 'मैं' अचानक
खो गये सारे स्वरूप-लक्षण ! अवाचक !
अब करूँ क्या, ढूँढ़ लूँ कैसे कहाँ मैं ?
किस तरह बन जाऊँ फिर से मैं वही 'मैं'
खुद गया हूँ खो, अरे ! इस देश में

हाँ, गया हूँ भूल निजको इस जगह मैं
आज तक भ्रम में रहा, सब है यथा-स्मृत
याद कर देखा, गईं स्मृतियाँ अचानक
ज़िन्दगी के मील के पत्थर अवाचक ।
अब तरूँ विस्तरण-सागर किस तरह मैं ?
खुद गया हूँ खो, अरे ! इस देश में

लुट गया हूँ मैं, अरे ! इस देश में
आज तक भ्रम में रहा, सब है सुरक्षित
देखता; है पार सीमा की अचानक
मिट गई लक्ष्मण-सुरेखा, मैं अवाचक !
पाऊँ प्रज्ञा का हरण नहीं रोक अब मैं
खुद गया हूँ खो, अरे ! इस देश में

{३३} मई, १९८९

(विशेष नोट देखिए)

कवि

मेरे हाथ में अक्षर आते, बन जाते वे गहना
मिलता माटी से मन मेरा, बन जाती वह सोना

मैं जादूगर शब्दों का, भाषा का, अर्थों का
जौहरी हूँ मैं ध्वनियों के प्रस्फूटन के हीरों का
भरी सभा में लेता मुजरा बन मैं कवि-सम्राट
कविता करती नर्तन नूतन अभिनव उसमें आज

मैं कारीगर, करता नक्शीकाम सूक्ष्म बूटों का
मयदानव-सा रचता सृष्टि, भगीरथ मैं देवों का
बन के सुर-गांधर्व जीवन के गान नये गाता मैं
धूलि-धूसरित कराल कर्दम काल-छवि धरता मैं

कुटिया को मैं महल बनाता, अपनी छड़ी घूमाता
रजकण को, जो अति अवमानित, सिंहासन बिठलाता
मैं हूँ मुक्त जीवन-मृत्यु से, धर्मों से ईश्वर से
चिर जीवन पाता जग मेरे संजीवन-स्फूरण से

पल पल नव सृष्टि रचता मैं, शाश्वत, भाग्य-विधाता
स्व-प्रसूत मैं, स्वयं ज्योति, अनहद रव का उद्‌गाता
संकल्पों में शुभ्र शुचि मैं, शुभ स्वरूप लहराता
विश्वदेव का शुचि रूप हूँ मैं, स्वयं सदा इठलाता

{३४} जून, १९८९

मैं, मन और मन का मन

एक समय मैं मन के मन से मिला । परस्पर अभिवादन । पूछाः भाई मेरे मन के मन ! कहो, कैसे हो ? सकुशल तो हो न ? उसने जवाब दिया : हाँ, सब तुम्हारी बदौलत ! और तुम कैसे हो ? मैंने कहा : वैसे तो सब ठीकठाक है, परन्तु अब, जबकि तुम मिल गये हो, पूछना यह चाहता हूँ कि तरह तरह की ग्रंथियों को लेकर जो मेरा चेतन मन बैठा है, उन्हें वह छोड़ता क्यों नहीं ? और तुम उनसे छुटकारा दिलाने के बजाय उसमें और ग्रंथियाँ क्यों भर रहे हो ?

तब मन का मन हँस पड़ा, पर बोला नहीं कुछ । मैंने फिर से उलाहना-भरे स्वर में कहाः तुम्हें यह समझना चाहिए कि आख़िर तुम किसके मन के मन हो और तुम्हें अपनी ये बचकाना हरकतें बंद कर देनी चाहिए ।

अब मन का मन बोला : तुम मूढ़ हो । बच्चों की-सी बातें तो तुम कर रहे हो ! तुमने थोड़ा-सा भी सोचा होता तो यह समझ जाते कि तुम, तुम्हारा मन और मैं जुदा नहीं, एक ही हैं!

{३५} नवम्बर, १९९०

कोकिल

मैं कोकिल हूँ
मैं पंचम स्वर में गाता हूँ
अमराई सारा संसार
कुहुरस-अमी पिलाता हूँ

कभी कभी कौए आते हैं
कर्कश स्वर में चिल्लाते हैं
इर्ष्या, स्पर्धा से जलते हैं
मैं तटस्थ ही रहता हूँ

मुकाबला वे क्या कर पाते !
जमात पूरी आती है
चुप रहता मैं, जैसे हारा !
मन ही मन मुस्काता हूँ

थक कर वे उड़ जाते हैं
तब मैं स्वर पर आता हूँ
मस्त, मस्त, इठलाता हूँ, औ,
सब को मस्त बनाता हूँ

कभी जीवन के, मृत्यु के, या
बिरह-मिलन के स्वर छेड़ूँ
कभी जपता हूँ शान्ति-मंत्र
कभी ऋत-संदेश सुनाता हूँ
मैं कोकिल हूँ

{३६} मई, १९९१

पत्नी के जन्मदिन पर

जीवन-नंदिनी !
मुबारकबादी नहीं दूँगा तुमको
तुम्हारी सालगिरह पर,
शुभकामनाएँ नहीं भेजूँगा तुमको
तुम्हारी वर्षगांठ पर,
सिर्फ कहूँगा यही कि,
गिरह सालों की होती है,
ऊर्मियों की नहीं,
गांठें बरसों की होती हैं,
भावनाओं की नहीं !

जीवन में गांठें होती हैं बरसों की,
जो बांधती भी हैं,
और मुक्त भी करती हैं
जीवन के अन्त में
स्वयं खुल कर !
तुमको भी ऐसी गांठों का उपहार मिले
इस शुभ दिन पर ।
बरसों की गांठें जुड़ती जायें,
मन की गांठें खुलती जायें !

स्वैरविहारिणी !
फैलना हो तो खड़ा है नीला आसमान पूरा
तुम्हारे आगे,
लहराना है तो पड़ा है धीर समंदर गहरा

तुम्हारे सामने,
खिलना है तो खुशबूदार मिला है गुलशन सारा
वसंत-पतझड़ लिए ।
आकाश का विस्तार
सागर की गहराई
उपबन की मधुछवि
भर जाये तुम्हारे मान सरोवर में,
जीवन-नंदिनी !

{३७} जुलाई, १९९१

एक पत्र

पत्र लिखने की इच्छा हो रही है आज
तीव्र !
एक जवाबी पोस्ट कार्ड
जो पड़ा है ड्राअर में मेरी मेज़ के
सदियों से ।
किसको लिखूँ ?
तुम तो जानते हो,
कोई नहीं है मेरा दोस्त
मेरा हमदम, मेरा बंधु-बाँधव, मेरी वाँधवी ।
तुम तो जानते हो,
कोई नहीं है ऐसा
जो पढ़ सके और समझ सके ख़त मेरा !
ख़ैर ! चलो, तुम्हीं को लिख दूँ,
ओ मेरे अज्ञात,
अभिन्न,
अन्तर्यामी वयस्य !

क्या डाक से भेजूँ,
या दे जाऊँ हाथोंहाथ ?
तय नहीं कर पाता !
किन्तु तुमको मिलेगा अवश्य यह पत्र मेरा !
जब मिले,
लिख देना जवाबी पोस्ट कार्ड साथ वाला
शीघ्र ही ।

डाक से मत भेजना
हाथोंहाथ ही दे जाना ।

जैसे सारी बातें लिख दी हैं मैंने अपनी
इस लम्बे-से ख़त में,
जैसे खोल के रख दिया है मैंने अपने आपको
दुनिया के सुख-दुःख भूलाकर
क्षण भर !
तुम भी वैसा ही करना ।
आख़िर एक क्षण तो अपना हो
अपनों के साथ !

और पता क्या लिखूँ ?
कुछ भी नहीं, ठीक ?!
पता तो चाहिए समान पत्रों पर !
यह तो पत्र ही ऐसा है,
जिसे पहुँचा सकता है कोई भी डाकिया !
पते के बिना ही !

और स्टाम्प भी क्यों लगाना ?
हाँ, मुहर लगा दी है मैंने
अपने दिल की !
तुम भी !

{३८} जुलाई, १६६२

उत्तर पूर्वीय अमेरिका में शरद्-१

देखो सखि, यह शरद् मन-भावन !
और साथ में पतझड़ पावन !
परन्तु बाँवरे मेरे ये नयन !
कुछ हो गया है इनको !
जहाँ भी, जो भी, जिसको भी
देखता हूँ,
दिख पड़ता है चित्ररंगी सर्जन !
क्या हो गया है इन नयनों को !
जा कर देखा दर्पण में तो सहम गया,
ये आँखें हैं या रंगबिरंगी पत्तियाँ पतझड़ की ?
अपनी ही नहीं,
तुम्हारी,
अपने बच्चों की ।
जिनकी भी देखता हूँ,
हैं सब की आँखें सतरंगी !
और देखता हूँ वन-उपवन में तो,
दिखाई पड़ती हैं आँखें ही आँखें !
ताक रहा है जैसे अपनी आँखों से कोई मुझको !
पतझड़ की पत्तियाँ हो गई हैं इन्द्रधनुषी आँखें
और आँखें हो गई हैं चित्ररंगी पतझड़ की पंत्तियाँ !

शरद्-सुन्दरी की सुहावनी देहलता इस वनराशि में !
ऐसा लगता हैं, जैसे
सो रही है वह पत्र-शय्या पर

अपने नींदभरे अलसाये लोचन ले कर !
और खिल उठी है, हे प्रिये !
तुम्हारी रूप-राशि भी शरद् का पारस-स्पर्श पा कर !
तुम्हारी अनुपम लावण्य-मयी यह मुखकान्ति !
तुम्हारी तनिक काँपती हुई यह देहयष्टि !
लगता है,
रंग-सी गई हो तुम शरद् के अद्बितीय सौंदर्य से,
या रंग रही हो तुम शरद् को अपने अनिंध सौंदर्य से ।
जी करता है,
ताकता ही रहूँ तुम दोनों को अनिमेष
सनातन समय तक !
ये अर्द्धनग्न सुहावने वृक्ष
ये झड़ने को तत्पर रंग बदलते पत्ते
ये झड़े हुए रंगीन पत्ते !
इन पत्तों की ओढ़नी ओढ़े यह विश्राम-शीला शरद् !
और इन सबके साथ गोष्ठि करती हुई तुम !
मैं समझता था, बूढ़े हो गये हम !
अब क्या रूमानी बनेंगे हम ।
पर राग तो जगा सकती है पतझड़ भी !
और बन सकती है वह बसन्त भी !
जी करता है,
अपना सारा प्यार उँडेल कर दे दूँ तुमको
और हो जाऊँ विलीन शरद्-शोभा में लेकर तुमको !

अब देखता हूँ घूम कर हमारे बेटे-बेटी को
खेलते हुए इन पत्तों के साथ,
और इन प्यारे प्यारे नन्हें बच्चों को
खेलते हुए उनके साथ,
तो होता है मनमें, जैसे

पतझड़ ही आया है हमारे घर शिशु-रूप लेकर ।
चलो, रख दूँ इन बच्चों को संभाल कर
अपने जीवन की कोरी किताब में,
-- जैसे शौक़ीन लोग रखते हैं पतझड़ के पत्तों को !--
ताकि
देख सकूँ मैं इनको भविष्य में
जब जी चाहे तब,
पन्नों को खोल कर बूढ़ेपन में !

अब समझा हूँ मैं मर्म मन्त्र का,
उपनिषद्कार की इस गूढ़ोक्ति का :
पूरे में से पूरा ले लो,
पूरा बचता है !

{३६} अक्तूबर, १९९२

श्री विष्णुसहस्त्रनाम का संशोधित पाठ

कर लिया है तैयार हमने सहस्त्रनाम का नया पाठ,
है अधिकांश पुराना यद्यपि मूल रूप में पाठ
कुछ जोड़ दिया है हमने नया ।
कर लिया है तैयार हमने सहस्त्रनाम का नया पाठ ।
हो गये थे आवश्यक कुछ परिवर्तन, भक्तो !
ज़रूरी थे परिवर्द्धन उसमें, प्यारे भक्तो !
कृपया कर लें संशोधन अपनी प्रति में
सविस्तार भेजेंगे हम छपवा कर दो-तीन दिन में ।

कुछ मंत्रो का अर्थ तभी बैठेगा,
'अ' उनके आगे जब कोई जोड़ेगा ।
दो-तीन मंत्र दिये हैं मिसाल रूप, लिख लें !
श्री अधर्मकृताय नमः ।
श्री अस्वस्तिकृताय नमः ।

नये मंत्र नव पोथी में हैं, कृपया रट लें
अर्थ स्वयं उद्धाटित होगा, कृपया गुन लें
प्राणहर्ता को शतशः नमन !
क्षमाहीन को शतशः नमन !
और भी नव नव मंत्र दिये हैं, भावुक जन जप लें ।

महामंत्र भी प्राप्त हुए हैं, अवश्य उनको रट लें
आँख मूँदकर हिन्दू बोलें निम्नलिखित यह मंत्र :
श्री बाब्रीध्वंसकाय नमः ।

नमाज़ पढ़ते ज़रूर बोलें मुसलमान यह मंत्रः
इंशाल्लाह मंदिर तोड़ेंगे हम यह !

अब लिखते हैं महिमा
श्री विष्णुसहस्त्रनाम जी के नये पाठ की हम ।
महामंडित है यह श्री विष्णु जी का अमर नाम ।
अपरंपार है महिमा उनकी
बखानी नहीं जा सकती ।
पहुँच जाता है पाठ करने वाला परम धाम ।
जो भी करेगा पाठ केवल एक बार दिन में,
यदि हिन्दू हुआ,
मस्जिदें तोड़ गिराएगा ।
यदि मुस्लिम हुआ,
मंदिर-बुत जमींदोज़ करेगा ।
यदि अन्य धर्मी हुआ,
दोनो को खूब लड़ाएगा ।

विधर्मियों के जो तोड़े पूजा के जितने स्थान ।
निश्चित है, वह जाएगा, जहाँ बसै भगवान ।।

{४०} फरवरी, १९९३

होली

होरी खेलन चले आज माँ भारती के लला
भर भर के पिचकारी अपने भाई के लोहू से
कैसे खेल खेलते, देखो ! राम-रहीम के लला !
आज माँ भारती के लला

धूम मची है बड़ी देश भारत के प्रांगण में
गोली चलावत है कोई तो कोई खंजर को
भारतमाता का यह बेटा लाल खून में पला
आज माँ भारती के लला

एक जलावत है दूजे को इधर ज्वाल अगन में
कोई फेंकत है किसी को बड़ी कला से गटर में
दुहाई ईश की, रब की कोई देता शख़्स भला
आज माँ भारती के लला

चलो सखि ! हम भी खेलें यह नई तरह की होली
कशमीर से कन्या तक, बहना ! जहाँ भी हो, जैसी भी
अबीर-गुलाल को क्या करना, जब ताज़ा खून मिला !
आज माँ भारती के लला

{४१} मार्च, १९९३

बर्फ़ की बारिश

बर्फ़ की बारिश होती अब, देखो मूसलधार, सजनि !
धरती को सिंगार सजाती, देखो मूसलधार, सजनि !

पुष्प-पंखुड़ी-सी ये स्नॉ की श्वेत श्वेत सुंदर पंखुड़ियाँ
ठूँठ वृक्ष की डाल डाल पर लहराती कोमल पंखुड़ियाँ
पल पल नव नव रूप बदलती, सतरंगी छवि धरती, सजनि !
देखो मुसलधार, सजनि !

नन्हें मुन्ने लेट रहे सुकुमार ऊष्म-शीत स्नॉ-शय्या पर
घर घर से जन निकल रहे हैं अपनी अपनी स्लेडें ले कर
और किये मुँह नभ की ओर लेते स्नॉका आस्वाद, सजनि !
देखो मूसलधार, सजनि !

हंगामा मच रहा चहुँ दिशि, शहर शहर सुख-लहरी, सजनि !
गोया यह स्नॉ नहीं, परन्तु खुशियों का सागर हो, सजनि !
मची धूम अब डगर डगर, मदमाते बिन मदिरा सब, सजनि !
देखो मूसलधार, सजनि !

{४२} मार्च, १९९३

सती

अरे ! यह कौन रो रहा है चुपके चुपके
छिप कर के
इस काल-रात्रि में
निःशब्द, मौन-मूक
अश्रु-हीन ?
अरे, कोई देखो रे !

भारतमाता !
सती हो रही है भारतमाता आज
जल रही है अपनी ही चिता में वह
अपना ही मृत शरीर ले कर !
एक युग था
जब भस्म हो गई थी आग में सती उमा
अपनी ही सुलगाई हुई !
किन्तु था कारण उसका
नहीं माना था शिव का कहना
स्वमान की रक्षा करनी थी
गौरव की रक्षा करनी थी
पर कोई कारण नहीं सती होने का
भारतमाता के लिए ।
तब भी सती हो रही है भारतमाता आज
मनुष्य की चिताई हुई दानवी आग में जल कर ।
सती हो रही है भारतमाता
आग में जल कर,

लज्जा की, संताप की, प्रतिहिंसा की ।
अरे ! कोई दौड़ो रे !
कौन शिव अब ताण्डव करेगा ?
कौन दक्षों का ध्वंस करेगा ?
रो रहे हैं देव-दानव
रो रहा है युग
रो रहे भगवान !

सती हो रही है भारतमाता
निःशब्द, मौन-मूक
अश्रु-हीन,
अरे ! कोई दौड़ो रे !

{४३} मार्च, १६६३

बर्फ़ से

बर्फ़ ! तुम धीरे धीरे बरसो
सुनो सयानी सखि !
बर्फ़ ! तुम धीरे धीरे बरसो
इतनी जल्दी क्या है, सजनि !
शीत का मौसम पूरा पड़ा है
अभी आज कल परसों
री ! थोड़ा थोड़ा बरसों
सुनो सयानी सखि !
बर्फ़ ! तुम धीरे धीरे बरसो

यातायात सभी ठप हैं
घर में सब ग्रोसरी खत्म है
जैसे खड़ा रहा जीवन है
जैसे सोया हुआ समय है
ऐसे में तुम ही क्यों दौड़ो ?
इत्मीनान से बैठो, बोलो
हल्के हल्के बरसो
जी ! धीरे धीरे बरसो
सुनो सयानी सखि !
बर्फ़ ! तुम धीरे धीरे बरसो

सुदूर की तुम राजकुमारी
जानूँ, तुमको खोज हमारी
इसीलिए करती यायावरी

भटक रही तुम मारी मारी
बर्फ़-सुन्दरी ! ओ सुकुमारी ।
बैन मधुर अब बोलो
चुपके चुपके बरसो
जी ! धीरे धीरे बरसो
सुनो सयानी सखि !
बर्फ़ ! तुम धीरे धीरे बरसो

जान गया 'गर बूढ़ा विन्टर'
क्रोधित हो भेजेगा बवंडर
हाहाकार करेगा निरंतर
सरा विश्व करेगा बंजर
प्राणप्रिये ! तुम तो गुणसागर
अरी निगोड़ी ! मेरे ख़ातिर
बचती बचती बरसो
सुनो सयानी सखि !
बर्फ़ ! तुम धीरे धीरे बरसो

{४४} मार्च, १९९३

कवि की मौत पर-१

कवि मर गया,
और कवि खुद को भी नहीं मालूम !
कवि मर गया !
कवि की मौत पर कोई न रोया
खुद कवि भी नहीं !
सच पूछो तो कोई हँसा भी नहीं,
इस लिए नहीं कि
बन नहीं सकता था हास्य-रूदन का आलंबन वह
(यह तो होती ही है कवि-मात्र)
बल्कि इस लिए कि,
जानता ही नहीं था कवि को कोई,
कवि खुद भी नहीं
कवि मर गया ।

कवि मर गया ।
आपने कभी सुना है,
अपने जन्मदिन पर कोई मरा ?
आपने कभी सुना है,
जिस क्षण कोई जन्मा, उसी क्षण मरा ?
उसी शुभ नक्षत्र, राशि और लग्न में ?
कैसा अद्भुत ढंग है अपना जन्मदिन मनाने का ।
आपने कभी सुना है,
किसी कवि का आत्महत्या के लिए अवतरित होना ।
आपने कभी सुना है,

जिसने आत्महत्या की,
हत्या भी की गई हो उसकी ?
तो सुन लें,
एक ही उदाहरण है जगत में इस बात का ज्वलंत
कवि !
कवि मर गया ।

कवि मर गया ।
किस्सा भी है कुछ अजीबोग़रीब
कवि की ज़िन्दगी का !
कहते हैं,
गला घोंट दिया किसी ब्रलराक्षस ने कवि का,
ताकि एक बूँद भी न टपके उसके लहू की ज़मीं पर,
और पैदा ही न हो कोई और कवि विश्व में !
कोई कहता है,
काटा गया कवि को क़तरा क़तरा
किसी ब्रह्मराक्षस के द्वारा,
पर पैदा हुआ एक एक क़तरे से
कवि का एक एक अदृश्य अंग और,
बन गया कवि
अशरीरी,
बहुरूपिया ।
जन्म, मृत्यु और पुनर्जन्म की एक ही घड़ी !
लोग हैरान !
कवि जी उठा
पर ब्राह्मराक्षस ने कहा,
कवि मर गया ।
यह क्या है तुम्हारे गर्भ में, कवि ?
किसकी बच्ची, तुम्हारी ?

नाम क्या रखा है, कविता ?
कवि ।
रसवन्ती बनाओ इसे
कवि ! कुछ अलंकार पहनाओ इसे
कवि ! लय में चलना सिखलाओ इसे
कवि ! थोड़ी बंकिम चाल सिखलाओ इसे
कवि ! इसकी एक एक अदा चित्र-सी हो
कवि !
छोड़ो यार ! ये बातें सब !
न्हीं कर सकोगे तुम ये सब !
जन्मजात प्रतिभा की कमी !
और कवि मर गया !

कवि ! तुम कैसे कवि हो ?
देखते नहीं,
हो रहे हैं दुनिया में
भूकंप, उल्कापात, चक्रवात और
हो रहा है सब स्वाहा ?
तड़पते हैं इन्सान भूख-प्यास से
मरते हैं कुछ, कुछ मर भी नहीं सकते !
जाति ही जाति की दुश्मन !
नितान्त स्वार्थी राजनीति
लांच-रिश्वत, अर्थनीति
शस्त्रों का व्यापार,
युद्धों का संसार !
दिखता नहीं सब तुमको ?
लिखो, कवि ! लिखने लगो !
कवि ! कैसे कवि हो तुम ?
जन्मे तब से खड़े ही हो ।

कहाँ गया तुम्हारी समसंवेदना का सोता ?
कहाँ गई तुम्हारी विद्रोही वाणी ?
कहाँ गई तुम्हारी कविता अमृतपावनी ?
पूछ रहा है ब्रह्मराक्षस कवि को
और ताक रहा है कवि ब्रह्मराक्षस को !
चेतन से कवि जड़ हो गया है
हड्डियों का पिंजर रह गया है।
कवि मर गया ।

कवि को मार डाला ब्रह्मराक्षसों ने,
कवि को मार डाला खुद कवि ने ।
जिस पल जन्मा
उसी पल मरा
न कोई रोया, न कोई हँसा
कवि खुद भी नहीं
कवि मर गया !

{४५} अगस्त, १६६४

कवि की मौत पर-२

कवि मर गया । कवि,
जिसके जन्म के बाद ही जन्म जन्म कहलाया
और जीवन जीवन । कवि !
जिसकी मौत के बाद ही मरण मरण कहलाया
और निर्वाण निर्वाण । कवि !
जिसके आगमन के बाद ही
जन्म, जीवन और मरण का भेद स्पष्ट हुआ
और स्पष्ट दिखाई पड़ी मोक्ष की मंज़िल ।

कवि मर गया । कवि !
जिसके जनमते ही,
एक रंग का न रहकर
मेघधनुष्य सात रंगों का हो गया
और सात में से बहुरंगी । कवि !
जो जाते जाते
समेटता गया सब बदरंगों को अपने साथ
और छोड़ता गया एक नवरंगी सृष्टि
सैंकड़ों विश्वों के आरपार !

कवि मर गया । कवि !
जिसने दिया अर्थ बाँझशब्दों को
जिसने कर दिया शुष्क अर्थ को रसाप्लावित । कवि !
जिसने दी कविता को सुंदर देहयष्टि
भर दी उसमें आत्मा और,

कर दी ध्वनित संसार के प्रांगण में । कवि !
जिसने पहनाये वस्त्र फटेहाल सरस्वती को
ढँक दिये उसके अंग
बनाया उसे सरस्वती
और कर दिया उसे बन्धनमुक्त
सर्वतंत्रस्वतंत्र !
कवि मर गया !

जल-प्लावन हुआ कि बन गया कवि नौका !
भूकंप हुआ ज़मीन पर या ज़मीर पर
दंगा हुआ, फूट पड़ी,
कवि का दिल पहले फटा ।
पाट दीं कवि ने दीवारें हृदय के चूने से !
भुखमरी आई, अकाल पड़ा,
बनकर बादल कवि बरस पड़ा !
समस्त जगत का आर्तनाद निकल पड़ा
कवि की वाणी बन कर
सब का आत्मविश्वास
सब की आत्मशक्ति
कवि ।
युद्धों में कवि ही तो उड़ा
शांति का एक क्षुद्र तिनका बन कर ।
कवि ही तो छुड़ा लाया
मनव-महाराक्षस के चंगुल से
शांति की सुकुमार राजकुमारी को !
कवि मर गया ।

कवि ही तो मानव-रत्न निकाल लाया
जीवन-मंथन कर के ।

कवि ही तो स्वयं उपमान बन कर आया नये नये
अपनी उपमा के लिए ।
कवि ही तो निकाल लाया वर्तमान का कंकाल
अतीत का कूड़ा-कचरा साफ करके
और कवि ही ने तो सिखलाया
लड़खड़ाते वर्तमान को
ढंग से खड़ा होना और ढंग से चलना !
कवि ही ने तो दिया इस रागान्ध विश्व को !
अपनी आँखों का उजाला ।
कवि मर गया ।

कवि गया,
जैसे अस्त होता है सूरज कभी न उगने के लिए
जैसे बन जाता है चाँद अमावस कभी पूनम न बनने के लिए ।
कवि मर गया,
नतमस्तक संसार को ऋण-भार से मुक्त करके !
लिखता नहीं था वह कविता,
देखता था !
जीता था !
फिर मन में भर कर गाता था !
कवि था क्रान्तदर्शी !
त्रिकाल के फलक पर लिखी हुई कविता का
आर्षदृष्टा !
कवि मर गया !

{४६} अगस्त, १६६४

कवि की मौत पर-३

सौ साल पहले की बात !
बड़ा अचम्भा !
न जाने क्यों और कैसे
संसार के समस्त कवि मर गये
कोई न बचा,
अफ़सोस !
जैसे डायनासोर हो गये थे अदृश्य निमिष-मात्र में
वैसा ही हाल कवि नामधारी जीव का !
सारी स्पीशीस ही हो गई निर्मूल
अफ़सोस !

कैसे हुई यह दुर्घटना ?
कवि तो होता है बड़ा मरजिया जीव
बड़ी जीवट वाला !
अवतार होता है वह तो संजीवनी शक्ति का
लग-भग अशक्य होता है कवि को मार डालना !
और अब कवि का मरना !
कवि क्या गया पूरा काव्य गया ।
अन्य कलाएँ बचीं तो क्या ?
मनुष्य तो फिर भी हो गया
अंश-पशु
नर-पशु !
किन्तु मरा कैसे कवि ?
न जाने, पर थियरियाँ हैं ।
कोई कहता है,

आत्म-हत्या कर ली कवियों ने मिल कर
कवि-नगर में,
परन्तु बस्ती तो होती नहीं कवियों की !
और न उनका देश होता है !
कवि सनातन यहूदी होता है !
कवि जमात में नहीं चलता,
कवि ऊँट होता है,
कवि जिप्सी होता है !

कोई कहता है,
घूमते हुए अनगिनत ब्रह्मराक्षस टूट पड़े
अंतरिक्ष से
कवियों पर ।
कवि को ढूँढ़ना मुश्किल नहीं
कवि होता है बोलता जीव !
कवि होता है भाट-चारण समाज का ।
निमिष-मात्र में समाप्त हो गया
कवि नामधारी जीव का
अस्तित्व !
कारण जो भी हो,
सौ साल पहले की बात !
संसार के समस्त कवि मर गये,
मानो अस्त हो गई मानव-संस्कृति !
मानो रूक गया समय भी चलते चलते एक क्षण
स्तब्ध हो कर ।
फिर चलने लगा लड़खड़ाता
कवि-विहीन !
अफ़सोस !

{४७} अगस्त, १९९४

कवि की मौत पर-४

विश्व के प्रांगण में घंटारव ।
मरण हुआ कवि का,
शोकसभा हो रही है !

अदृश्य हो गया कवि नाम का जीवमात्र
इस संसार से,
बाँझ हो गई धरतीमाता !
शोक सभा हो रही है ।

सैंकड़ों वक्ता ।
किसी को होमर पसंद है तो किसी को कालिदास !
कोई रो रहा है शैक्सपियर को तो कोई कहता तुलसीदास ।
कोई पुकारे, हाय वाल्मीकि !
सब के सब हैं निराश !
कोई नहीं जानता,
किसने किया यह जघन्य पाप कवि-हत्या का !
कौन था वह बुभुक्षु,
जो निगल गया कवि-मात्र को, जैसे अजगर !
शोकसभा हो रही है !

वैसे तो अच्छा था वह जीव ।
कभी-कभु सुनाया करता था अपनी नई रचना
दुनिया के मेले में
समय-असमय !

तब भी अच्छा था बेचारा जीव !
शोकसभा हो रही है !

कौन गाएगा गान अब हमारे जीवन के
हमारी संस्कृति के ?
कब आएगा कवि फिर से इस धरा पर
सुनाने नूतन वेदों के सामगान
नई पीढ़ी को ?
शोक सभा हो रही है !

कवि की मृत्यु !
रो रहा है सारा संसार !
विश्व के इतिहास में प्रथम बार ।
मनुष्य ही नहीं,
रो रहा है जीव-मात्र,
जीव ही नहीं, रो रहा है निर्जीव-मात्र !
आर्द्र हो गई हैं आँखें बूढ़े खोखले समय की भी !
कवि का निधन ।
शोकसभा हो रही है !

{४८} अगस्त, १९९४

बेटे से - १

चल बेटे ! हम रो लें
वर्षों से नहीं रोये हैं, पल एक रूदन को दे दें
चल बेटे ! हम रो लें

ठाँस ठूँस के भरा कोष आँसू का गहरा हिय में
आँख बचाकर जग की लोभी गाड़े धन गह्वर में
दाब दाब कर संचित धन छूटे नहीं अंतिम क्षण में
हाल न हो कहीं ऐसा हमरा, चल, उदार कुछ हो लें
चल बेटे ! हम रो लें

जग में जो दुखियारे, उनका क्रन्दन कोई न सुनता
हँसने की हा-हा में हाहाकार न कानों पड़ता
निज नितान्त संकुल वर्तुल में मानव-मन मँडराता
किसी की मौन बिथा की बातें कान-कान में कर लें
चल बेटे ! हम रो लें

पर के लिए ही रोएँगें, यह निर्णय था निज मन में
युग बीता जलते जलते, फिर भी चुप रहे कुढ़न में
खुशियाँ दे, आँसू का सौदा किया पूर्ण जीवन में
चुप होंगे कल, दोस्त ! आज खुद के ख़ातिर कुछ रो लें
चल बेटे ! हम रो लें

{५६} अक्तूबर, १६६४

बेटे से – २

चल बेटे ! हम रो लें
मुझको रोये कल्प हुआ, तुमको भी हँसते हँसते ।
चल बेटे ! हम रो लें
फूट पड़ा था जल-प्रयात एक दिन मेरे क्रन्दन का
देख हुए रक्तिम कपोल थे लज्जित महारूदन का
लब से सूखे नयनों का जल-सिंचन कुछ तो कर लें
चल बेटे ! हम रो लें

राह तुम्हारी खुशियाँ नाचे, गान स्वयं गुंजित हैं
पुष्पगंधमय मन का मलयानील मधुर सुरभित है
पल दो पल जग के दुखियों के संग उदास कुछ हो लें
चल बेटे ! हम रो लें

निज के लिए न रोयें कभी, हो मस्त कलंदर हँस दें
छिपे हुए आँसू बटोर, मन की मधु बूँदें दे दें
किन्तु एक दिन रो कर भी मन का कुछ मर्म समझ लें
चल बेटे ! हम रो लें

{५०} अक्तूबर, १९६४

उत्तर-पूर्वीय अमेरिका में शरद् - २

शरद् सुहावन आई है
साथ में सखी पतझड़ को लाई है
सुन्दर को किसने बाँधा है ?
रंगो पर किसने रोक लगाई है ?
        ऋतु मनभावन आई है
        शरद् सुहावन आई है

शरद् होती है शरद्, और कुछ नहीं,
मगर तब भी सब कुछ !
स्निग्ध,स्वच्छ औ खुला
शरद् के हृदय - सा
यहाँ का व्योम
कोई दु:ख नहीं
व्योम में मँडराती विस्मय-मूढ़ तारक-सृष्टि,
मनो उत्सुक हों
नीचे
अपनी रूप-सज्जा करती हुई
इस सद्य-स्नाता अनिंद्य सुन्दरी
शारदीया धरती के अनुपम सौंदर्य का
        रसपान करने को !
        शरद् सुहावन आई है

पेड़ो की ये रंगीन पत्तियाँ
और इन पत्तियों के लिए प्रेम-विधुर

सूरज की किरणें !
जो रंग देती हैं इन पत्तियों को
अपने हृदय की इन्द्रधनुषी ऊष्मा से !
तो उधर से आती है श्वेत-शीतल चाँदनी,
जो भर देती है इन पत्तियों को
अपने हृदय की शुचि सुषमा से
फिर उमड़ पड़ते हैं क्षितिज की कोर से
बादलों के दल के दल,
जो जुट जाते हैं
इनको मढ़ देने के कौशल में !
और इन सबको प्रेम से झकझोरते हुए
ये मरूत्‌गण !
और सबके साथ मस्ती से झूमतीं गाती हुईं
ये नन्ही नन्ही बरसाती बून्दें ।
जैसे होड़ लगी है प्रकृति के प्राण-तत्वों में
इन पत्तों की रूप-सज्जा करने की !

चला गया दिन करके छोटा अपने कद को
और ढँक ली रात ने इस रूपराशि को
अपनी जगमगाती चूनरी में !
यह सोचकर कि,
नज़र न लग जाये कहीं किसी की
इस रूपसि को !
शरद्‌ सुहावन आई है ।

सुन्दरतम मेपल के पत्ते
बोलते पत्ते !झूमते पत्ते !
नित नव रागिनी गाते पत्ते !
बीच बीच में अपनी छटा फैलाते

जापानीस मेपल के पत्ते !
रंग धारण करते हैं
रंग बदल भी देते हैं
रंग बदलते रहते हैं
अपनी इच्छा-शक्ति से ये पत्ते !
कब रक्तिम हुए, कब ब्राउन,
कब जामुनी, कब बहुरंगी,
हरे-भूरे और रंग-फागुन,
एक ही पेड़ पर वृन्दावन ।
यह धरती तो बैठी है अपनी हरी चुनरी ओढ़े हुए,
और ये एवर-ग्रीन तो एवर-ग्रीन !
मिलकर ये सब बुन देते हैं
मायाजाल रंगीन,
उतर आता है इन्द्रलोक भी
करने शुभ दर्शन !

जाते जाते सिखा गई यह शरद्-सुंदरी जग को
भीषण मार खा कर ही कोइ पाता सुन्दरता को
शरद् सुहावन आई है !

{५१} अक्तूबर, १६६४

स्वानुभूति

बनना नहीं होता,
होना होता है ।
जीवन की कुछ बातों में
बनना नहीं होता,
होना होता है,
जैसे कि हम हैं !
बहुत बार जीवन में
हम होते हैं
बन नहीं सकते ।
मन, हृदय और आत्मा होते हैं एक ही,
बन नहीं सकते,
होते ही हैं ।
तीनों होते ही हैं
अद्वैतमय,
प्रतीति नहीं होती उसकी,
पर होते हैं एक ही,
बन नहीं सकते ।
हाँ,
जब प्रतीति होती है उसकी अंतरंग,
तो कहलाती है कदाचित् वह
स्वानुभूति !

करना पड़ता है कठोर परिश्रम और तप
इस स्वानुभूति की सिद्धि के लिए !
सुगम नहीं है यह प्रत्यभिज्ञा !

{५२} अगस्त, १९९५

गोडसे–कल्ट

गोली गांधी को लगी या हमको ?
गांधी को तो केवल छुआ-न-छुआ गोली ने,
फिर मानो प्रणाम कर के
बस गई उनके हृदय में !
फिर बन गई बूमरेंग, और
गांधी के शरीर से निकल कर
पहले तो काम तमाम किया गोडसे का उसने,
फिर आप्टे आणि कंपनी का ।
छोड़ा नहीं किसी को !
गोली गांधी को लगी या हमको ?

गांधी को तो लगी ही नहीं गोली ।
गांधी स्वयं सो गया
चिर गहन निद्रा में,
निद्रा से भी पर
तुरीयावस्था में ।
और गोली बन गई बूमरेंग !
एक पल के मिलियनवें हिस्से में,
चार अरब मनुष्यों की छाती को छूती हुई,
प्रत्येक के रक्त की बूँदों से
अपने को और उन सब को रंगती हुई
अदृश्य हो गई क्षितिज के उस पार ।
गोली गांधी को लगी या हमको ?

छूटते छूटते सिखा गई गोली हमको

लगते लगते लग गई गोली हमको
समझते समझते समझा गई गोली हमको,
मनुष्य हैं, मतभेद हैं,
मनुष्य हैं, मनभेद भी हैं ।
परन्तु अधिकार नहीं होता मनुष्य का
मनुष्य की हत्या करने का ।
हिंसा निगल जाती है पहले हिंसक को ।
गोली गांधी को लगी या हमको ?

परन्तु सावधान अब सब ।
पूजा आरंभ हो गई है गोली चलाने वालों की
आरती उतर रही है गोडसे-कल्ट वालों की,
वापस आ रहा है नव्य कल्ट गोडसे का,
नव्य नान्ज़ी-कल्ट की तरह !
किन्तु जानते नहीं हैं वह कदाचित् कि
गोली लगी है उनको,
गांधी को नहीं !
यह भी कदाचित् जानते नहीं वे कि
जादू जानता है प्रत्येक भारतवासी
गोली में से बूमरेंग बनाने का ।
सावधान अब सब !

गोली गांधी को लगी या हमको ?

{५३} १९९५

किसी पार्क में महात्मा गांधी के पुतले को देखकर

यह मूरत गांधी की ।
उखाड़ फेंकूँ, आग लगा दूँ
दफ़ना दूँ धरती में ।
खुश होंगे गांधी जी ।
यह मूरत गांधी की !

कभी नहीं चाहा गांधी ने, उसकी मूर्ति बनायें,
यह भी पब्लिक पार्क बीच ! कभी नहीं हो सकता
इससे बड़ा भला क्या होगा गांधी का अपमान ?
स्वार्थी लोग न सुनते उसकी आह और निश्वासन ।
यह मूरत गांधी की !

मना किया था गांधी ने अपनी पूजा करने को
मना किया था गांधी ने निज स्तुति-भक्ति करने को
गांधी था इन्सान, चाहता था इन्सान ही रहना
इच्छा थी, औरों को भी इन्सान बनाये रखना
यह मूरत गांधी की !

एक साल में एक बार चरखा ले कर सब जाते
आधे पहर तक जैसे-तैसे चरखे अपने चलाते
शीश नवाते झाड़-फूँक कर सब पुतले की धूलि
इसके बाद रफूचक्कर ! बोलो जय जय गांधी की !
यह मूरत गांधी की !

रखकर पुतला चले गये सब तथाकथिन पूजक जन
पार्क करे रखवाली अब तो, पशु-पंछी, जन्तु-गण !
जीता था तब सदा रही हालत विपन्न गांधी की,
मरने पर भी चैन नहीं, हा ! हन्त ! हन्त ! गांधी जी !
यह मूरत गांधी की !

{५४} अक्तूबर, १६६५

छात्रापराधक्षमापनस्तोत्र

वर्ष के वर्ष के वर्ष बीत गये
पत्ते के पत्ते के पत्ते झड़ गये ।
एक शताब्दी से दूसरी में
सूरज ने अपने चरण धर दिये ।

अब तो कोई नहीं देता होगा मुझको इतना स्नेह
अब तो कोई नहीं करता होगा मुझको इतना याद
अब तो कोई नहीं करता होगा मेरा इतना मान
और करे भी क्यों ?
छोड़ कर चला जो गया था वर्ष के बीच में सबको,
पढ़ाई को ठीक मझधार में !
सबने पूछा, क्यों ?
क्या उत्तर देता, क्यों !
हुआ ही कुछ ऐसा,
समझा न सका, क्यों !

एक धक्का, एक झटका लगा होगा तुम सबको,
आश्चर्य का, पीड़ा का और शोक का ।
एक बवंडर-सा उठा होगा सबके मन में अवशता का,
प्रतिदिन की समझाहट का, प्रतिपल की विवशता का ।
मैं भी विवश ! अकथ रहा जो कथ्य बसा था मन में ।
मेरे पास तो थे ही मोती कबके ? पर,
पिरो न सका तुम सबके वे अनमोल मोती
अपनी कर्तव्य-माला में मैं ।

क्षमाप्रार्थी था, क्षमाप्रार्थी रहा
आमृत्यु मैं तुम्हारा ।

कितने मासूम थे वे चेहरे तुम्हारे ।
कितनी प्यारी और भोली भाली थीं वे सूरतें तुम्हारी !
कितने भरे हुए थे ज्ञान की चाह से वे हृदय तुम्हारे !
मानव-जीवन की भावी आशाएँ
नारी-जीवन की उत्कट अभिलाषाएँ
भावी जीवन की धुंधली छायाएँ, और
आशा के सूर्य की किरण-रेखाएँ !

क्या पढ़ाएगी मरी पुस्तक जीवन के सच्चे पाठ,
जब तक निकाल कर उसमें से
एक सच्चपूर्ण तिनका
रख न दे शिक्षक
अपने हारिल-छात्र के मुँह में,
ताकि बना सके वह उससे अपना जीवन- नीड़
और तर जाये अंत में वैनरिणी जीवन की !

मेरी ओ प्रिय छात्राओ !
क्या यही आरजू ले कर नहीं आई थीं तुम कालेज में ?
पूरे हृदय को देख सकता था मैं तुम्हारे
तुम सब की आँखों में !
निर्दोष, शुद्ध-शुचि, सालस, पारदर्शी !
कितने अरमान,
कितने सपने,
कितनी भावनाएँ उमड़ रही थीं तुम्हारे मन में !
स्थूल गमन तो कबका हो गया मेरा
पर हो रहा है आज तक

मन का मेरे गमनागमन ।
कर रहा हूँ चयनाचयन
उसी पुरानी बात का आज तक ।
भटक रहा हूँ इस भवारवी में
अश्वत्थामा-सा मैं ।
आज आया मन में
क्षमा माँग लूँ यह पत्र लिख कर मैं ।

उतना स्नेह और उतनी श्रद्धा
उतना प्यार और उतना विश्वास !
यही तो है वह महापाथेय,
जिसको ले कर खड़ा हूँ
अपने जीवन के अंतिम मोड़ पर मैं ।

मेरी ओ प्रिय छात्राओ !
आज,
मेरे अंतिम गमन से पहले,
इच्छा हो रही है तुममें से एक-एक से मिलने की
एक बार फिर से वर्गों में जीवन-पुस्तक खोलने की ।
देखना है,
कैसी दिखाई देती हैं आज तुम सब की आँखें ।
शायद वैसी ही स्नेहशील,
शायद वैसी ही शुचिशील,
शायद वैसी ही क्षमाशील ।

{५५} अक्तूबर, १६६५

हरिकैन

सजनि ! आया है हरिकैन
सखी री ! यह आया हरिकैन
चलो, चलें शेल्टर में, या होटल में ही सुख-चैन
हनी ! लो, आया यह हरिकैन

लगा दी है लकड़ी शीशे की खिड़की, दरवाज़े पर
फ्लेशलाइट और ट्रान्ज़ीस्टर, मोटर का रखा जम्पर
रेफ्रीजरेटर चालू रख कर और स्वीच सब बन्द
दवाइयाँ ले लीं, खाने के रख दिये हैं फुड-कैन
माई री ! चालीसवाँ हरिकैन
सखी री ! आया है हरिकैन

तुम ले लो बच्चों के डायपर, खिलौने ओ' कुछ बरतन
टॉयलेट-टीस्यू, पीने का पानी, और यह दर्पण
नकद हो जितना और कार्ड क्रेडिट के मत भूलना
तैयारी कर लो जल्दी, मुँह से कम बोलो बैन
सजनि ! यह पहुँचा हरिकैन
सखी री ! आया है हरिकैन

छुटके को ले लो तुम, इनू ! बड़के को उठाता हूँ मैं
और दो बड़े चले चलेंगे, बिस्तर लाता हूँ मैं
कुत्ते-बिल्ली नहीं जा सकते, छोड़ेंगे केनल में
जी करता, थोड़ी सी पी लूँ ! इसी लिए बेचैन !
यह मूआ आया जो हरिकैन
सखी री ! आया है हरिकैन

वायु आँधी की उठी हुई, सहमी हैं दशों दिशाएँ
महाराक्षसी माया, दानव एक, कोटि कायाएँ
हुंकारों से, फुत्कारों से करता तांडव-नर्तन
घोर अँधेरा छाया है, लगती है दिन में रैन
सजनवा ! डर लगता ! हरिकैन
सजनवा ! आया है हरिकैन

फाड़ मुँह, भौं ताने, उठ रहीं लहरें सागर में
तीन लोक का भेद मिटाते चक्रवात पलभर में
टुकड़े कर पृथ्वी के गोया भेज रहा सूरज को
इससे मौत भली, पर हमको है कुछ लेन न दैन
डेडी री ! अच्छा है हरिकैन
सखी री ! आया है हरिकैन

{५६} अक्तूबर, १९९५

स्नॉ-स्तुति

हे देवाधिदेव स्नॉ !
हे बर्फदेव !
स्वागतम् ! अथ स्वागतम् !
शतश : नमन
तव स्वागतम् !

हे देवाधिदेव स्नॉ !
न मैं आस्थावान हूँ, न भक्तिमान्
किसी के आगे शीश नहीं झुकाता मैं अपना
तब भी,
नतमस्तक हो जाता हूँ तुम्हारे आगे ।
हे भगवान् !
स्वीकार करो मेरे प्रणाम
इस वर्ष के तुम्हारे प्रथम मिलन पर
स्वागतम् ! अथ स्वागतम् !

तड़प रही थी यह सारी धरती तुम्हारी प्रतीक्षा में
विरह-विधुरा,
पतझड़ ने बना दिया था इसे वीरान
बंजर
खंडहर !
रो रो कर झड़ गये पत्ते भी
पीलिया से पीड़ित,

फेंक दिये सारे श्रृंगार पेड़ों ने भी
अपनी शाखाओं पर से
और खड़े रह गये उदास
वन्ध्य-से !
ताकते ही रहते हैं तुम्हारे आगमन की दिशा की ओर
जैसे चातक
जैसे मोर ।
स्वागतम् ! तव स्वागतम् !

हाइबरनेट करना था जिनको,
कर गये,
अपनी अपनी गुफाओं में, दरारों में ।
हिजरत करनी थी जिनको,
कर गये,
दक्षिण के देशों में, बनों में ।
कर रहे हैं लोग तुम्हारा सम्मान
गा रहे हैं सब तुम्हारे गुणगान
तुम्हारी महिमा
तुम्हारी गरिमा
स्वागतम् ! अथ स्वागतम् !

तुम आते हो,
मढ़ देते हो आते ही
पूरी प्रकृति को सुन्दरता से
पहना देते हो धवल परिधान उसे
ढँक कर उसके नग्न गात ।
तुम आते हो,
सजा देते हो आते ही
अपनी श्वेत पतली लकीर से,

इन वृक्षों की शाखा-प्रतिशाखा को,
जो ठूँठ बनी थी पतझड़ की मार से ।
नाचने लग जाते हैं तरूवर फिर से थनगन
पा जाते हैं एवरग्रीन भी सुमंडन ।
तुम आते हो,
छा जाता है त्रिलोक में आनंद-उमंग
उत्साह
नवजीवन !
स्वागतम् ! तव स्वागतम् !

{५७} नवम्बर, १९९५

धूमकेतु के आगमन पर
(दो धूमकेतुओं के आगमन के समय)

देखो, देखो ! आज अचानक कैसा आया
पुच्छल तारा हम सबके जीवन में !

कहीं कोई संकेत नहीं था, पूर्व-सूचना नहीं मिली थी
विधि के दूरबीन में ना झाँकी, नहीं हस्तरेखा भी बनी थी
जीवन सीधा, साफ़ चला था, वक्रगति की बात नहीं थी
मोड़ नहीं आकस्मिक आये, तूफानों की घात नहीं थी
फिर जाने किस कोने से मन के यह
तीव्र गति से उड़ता आ धमका असमय में !
देखो, देखो ! आज अचानक कैसा आया
पुच्छल तारा हम सबके जीवन में !

आते ही उधमान मचाये, छिन्न-भिन्न परिवार उजाड़े
स्निग्ध, मधुर, ऊर्मिभर डर सब उजड्ड, बंजर से कर डाले
जीवन के कोमल कुसुम नव तप्त दाह से झुलसा डाले
क्षितिज पार जाते जाते मन एक हुए खंडित कर डाले
कूड़े-कचरे का यह ढेला कैसा उल्कापात
मचा गया रक्तमाँस के मेले में ।
देखो, देखो ! आज अचानक कैसा आया
पुच्छल तारा हम सबके जीवन में ।

{५८} मार्च, १९९६

प्रतीक्षा

मन के चौराहे पर बैठा हूँ, पर कोई आये तब न ।
एकाकी जीवन जीना है सूना, ऊना, पर वह बीते तब न ।

कितनी प्यारी बस्ती बसाई थी छोटी सी साफ़-सुथरी
कितने मीठे जीव बसे थे, गलियाँ उसकी थी जग-न्यारी
चक्रवात की आँधी आई, नभ में सबको उठा ले गई
जी करता, फिर उसे बसाऊँ, पर धरती पर आये तब न ।

मिलजुल के हम रहते, खाते, हँसते-कूदते, प्यार जताते
सिमट लिया था विश्व समूचा अपनी माया में मुस्काते
टूट गया पर बाँध अचानक, बह गये सब के रूप चिल्लाते
काल-बाढ़ से उबारता, पर कोई हाथ बँटाये तब न ।

भरा पूरा था जीवन मेरा, किसी बात की कमी नहीं थी
अपनों की हलचल से चौराहे में भी मधुगूंज बसी थी
फिर क्या हुआ कि सबकी आवाज़े बुलंद सब लुप्त हो गईं
मुझे भी चुप हो जाना है, पर कोई मौन सिखाये तब न ।

{५६} अगस्त, १९९६

मेरे अपने क्षण

ये कुछ क्षण !
ये कुछ क्षण, जो मुझको मिले हैं,
ये कुछ क्षण, जो बचाकर मैंने रखे हैं
मेरे अपने हैं ये,
केवल मेरे,
किसी का कोई अधिकार नहीं इन पर
ये कुछ क्षण !

न ये किसी का दान हैं, न उपहार
न ये किसी की भीख हैं, न कहीं से उधार
हैं ये मेरी अपनी कमाई !
जीवन भर के कठोर परिश्रम से संचित
हैं ये मेरी अपनी पूंजी !
ये कुछ क्षण !

इनको रखूँगा संजोइ अपनी तिजोरी में मैं
इनको खर्च करूँगा केवल मैं
एक कंजूस की नाईं जमा करूँगा इनको मैं
फूटी कौड़ी भी नहीं दूँगा इनमें से किसी को मैं ।
बन्द करके इनको किसी गह्वर गुफ़ा में
बैठूँगा कोब्रा बनकर गुफ़ा के दर पर मैं ।
ये कुछ क्षण !

जब किसी कष्ट का हरिकैन आयेगा
जब वेदना की बाढ़ को दिल थाम न पायेगा
जब पतझड़ के रंगों से दिल रँग जायेगा

जब स्नॉ का श्वेत गुलमोहर दिल में शुचि भर देगा
जब दिल की मिटटी में बसन्त का पौधा खिलेगा,
तब करूँगा इस्तेमाल इनके लाखवें टूकड़े का मैं,
तब करूँगा लेपन
इनके मधु की मिलियनवीं बूँद का मैं !
ये क्षण मेरे अपने हैं,
मुझ अकले के !
ये कुछ क्षण !

ये ही तो हैं मेरे प्रज्ञाचक्षु
ये ही तो हैं मेरे प्रकाशवर्ष,
ये कुछ क्षण !
ये ही तो हैं मेरे अनगिनत ब्रह्मांड,
मेरा ब्रह्मज्ञान,
मेरी संजीवनी-शक्ति,
मेरे अमरत्व का वरदान !
ये ही तो हैं मेरे कवच-कुंडल,
प्राण से जड़े हुए ।
ये गये कि मैं गया ।
ये कुछ क्षण !

ये ही तो दौड़ते-कूदते हैं मेरे साथ दिन को,
ये ही तो सोते हैं निस्पंद मेरे साथ रात को !
जब अपनी अंतिम मंजिल की ओर जाऊँगा,
ये ही तो होंगे केवल मेरा बर-भोज !
ये कुछ क्षण !

{६०} मार्च, १६६७

उत्तर पूर्वीय अमेरिका में बसन्त

धीरे-धीरे बसन्त हँसता आ रहा है, स्वागत हो !
पृथ्वी के प्रांगण में गठरी खोल रहा है, स्वागत हो !

हल्की हल्की सुरभि बिखराता है कुंजो-वीथियों में
भीगी भीगी महक-मदिरा घोल रहा है कण-कण में
सूरज भी भर रहा सुरा है मानो अपनी किरणों में
धीरे-धीरे बसन्त हँसता आ रहा है, स्वागत हो ।

वायु गूँज रही मधु गाने नित नित नव नव रागों में
पंछी चहक रहे निर्भीक हो निर्झर के नव नर्तन में
दिन भी भरता उड़ान लम्बी, जो था रात्रि-बन्धन में
धीरे-धीरे बसन्त हँसता आ रहा है, स्वागत हो ।

अब तक बन्दी था बेचारा जो विन्टर की कारा में
अभी बनेगा बन्दी वह फिर से गरमी के बन्धन में
उदार दिल का अतिथि देता जग को, जो है गठरी में
धीरे-धीरे बसन्त हँसता आ रहा है, स्वागत हो ।

{६१} मई, १९९७

(विशेष नोट देखिए)

तुम दीवानों में नहीं

माफ करना !
तुम दीवानों में नहीं,
हममें से एक नहीं ।
हम तो हैं दीवाने,
दीवानों में एक,
दीवानों में बसते ।
तुम तो दीवानों में नहीं ।
माफ़ करना ।

तुम तो हो समझदारों में,
समझदारों में एक,
समझदारों में बसते ।
हम हैं मतिमंद,
तुम हो मतिमंत ।
हम हैं दीवाने,
तुम दीवानों में नहीं ।
माफ़ करना !

हम ठहरे दीवाने
दीवाने तो दीवाने, पर
साफ़-सुथरे, स्वच्छ
ट्रान्सपेरेन्ट
क्रिस्टल क्लियर ।
तुम ठहरे हज़ार मुखौटे वाले
अपने आप को भी नहीं देख पाते,

और हम हैं बिना नक़ाब वाले ।
हम तो हैं दीवाने ।
जी नहीं,
तुम हममें से एक नहीं
तुम दीवानों में नहीं,
माफ़ करना ।

{६२} जुलाई, १६६७

बिबिधता की रक्षा

बिबिधता की रक्षा हो ।
हाँ,
अगर करना तुम्हें स्थापित जगत में एकता
बिबिधता में ही वह संस्थापित करो
मत करो तुम नाश उसका, जगतजन !
बिबिधता की रक्षा हो !

मैं नहीं कहता कि हम सब एक न हों
मैं नहीं कहता कि हम अन्वित न हों
जो भी हों
जैसे भी हों
सब बिबिध हों ।
बिबिधता ही एकता का मूल है
बिबिधता ही अन्विति-आलंब है ।
बिबिधता की रक्षा हो !

बिन बिबिधता एकता नहीं आएगी
बिन बिबिधता अन्विति नहीं आएगी
धर्म, लिपि, भाषा व संस्कृति, सभ्यता
वेषभूषा, अंक, संगीत, वक्तृता,
इन्द्रधनुषी रंग हों
प्रकृति के बिम्ब हों
सब बिबिध हों ।
भिन्नता में एकता स्थापित करें
अलगता में अन्विति स्थापित करें ।
बिबिधता की रक्षा हो ।

ये सितारे, चाँद-सूरज, विश्व सब बतला रहे
पेड़-पौधे और अणु-परमाणु के कण कह रहे
प्रकृति पूरी है पल पल बिबिधता में जी रही
फिर भी है वह एक और अखंड-रूपी रम रही ।
भिन्न सब ब्रह्मांण हों
ब्राह्म रूप विभिन्न हों
मूल में सब एक हों ।
बिबिध बिश्वों में रमाएँ आज हम
एकता औ अन्विता की धूनी हम ।
बिबिधता की रक्षा हो ।

{६३} अगस्त, १९९७

पतझड़ के पत्ते

हम पत्तों के रंग देखने चले,
या पत्तों से ख़ुद को रंगने चले !

शरद्-सुन्दरी है सज आई
पतझड़ को भी है संग लाई
दोनों ने मिल कर बनाये हैं
पत्ते ये पेड़ों पर पले
हम पत्तों के रंग देखने चले

कुछ पत्तों में रंग नहीं, बल्कि
कोई नव सृष्टि भरी है
बखान इनका सरल नहीं है
चाहे लगे कवियों के मेले
हम पत्तों के रंग देखने चले

पत्ते नहीं निर्दोष शिशु हैं
रंगबिरंगी, भोलेभाले
चलिए हो जायें शिशु हम भी
पत्तों से बन जायें निराले
हम पत्तों के रंग देखने चले

नन्हें नन्हें पत्ते हैं ये
इनमें से हरेक के दिल में
चार अरब वर्षों के जैसे
होरी-खेलन रंग घुलमिले
हम पत्तों के रंग देखने चले ।

{६४} अक्तूबर, १९९७

विचार और संगीत

गाने लग जाती हूँ, ताकि विचार आना बन्द हों
विचार-वायु उठती जब जब, गाने मैं लग जाती हूँ

लग रहा है ज़िन्दगी में उलझनों का रोज़ मेला
एक बस ! संगीत है, जो तोड़ सकता सिलसिले को
गुनगुनाती इस लिए हूँ
गाने में लग जाती हूँ

जा नहीं सकता मूआ मन सोच-सागर पार, हाय !
ढूँढ़ने जो था गया मोती, अधम धिक् ! मुँहजला यह
राग-मौक्तिक चुन रही हूँ
गाने मैं लग जाती हूँ

मैं मिटी, जीवन रहा बन एक खंडहर नष्ट-सा
है फूटा अणुबम हृदय में और बाहर ज़लज़ला
स्वर-अणु फैला रही हूँ
गाने मैं लग जाती हूँ

{६५} नवम्बर, १९६७

कड़ुई जीभ

जीभ कड़ुई हो गई
कड़ुआपन खाते-पीते वह ख़ुद ही कड़ुई हो गई
जीभ कड़ुई हो गई

सोचा था, सबको पिलाऊँगा मैं ताज़ा अमृत का रस
सोचा था, भर भर कटोरे, मैं दूँगा जग को जीवनरस
किन्तु क्या कुछ कैसा हुआ कि मिठास तबदील हो गई
मन मुए की मुराद मेरे मन ही मन में रह गई
जीभ कड़ुई हो गई

सोचा, थोड़ी शक्कर खा कर बनाऊँगा मैं इसको मीठी
थोड़ा मधु, थोड़ा-सा गन्ना मिलने पर, सोचा बदलेगी
किन्तु हाय ! जीवन की वायु कुछ ऐसा नवमिश्रण भर गई
अपना ही रस पी कर बेचारी जिह्वा बदस्वाद बन गई
जीभ कड़ुई हो गई

भटक रहा हूँ भवाटवी में जीभ लिए तनहा दर दर मैं
ढूँढ़ रहा हूँ मीठापन, उसमें जो था, जग के घर घर मैं
कोई कभी पिलाएगा मधुरस, बस इतनी प्यास रह गई
संजीवन-रस उभरेगा जिह्वा पर, इतनी आस रह गई
जीभ कड़ुई हो गई

{६६} जनवरी, १९९८

भारत से अमेरिका जाते हुए

गा मधुर, मन ! गान गा तू
इस बिजोगी ठाट से गा योग की संरागिनी तू
गा मधुर मन ! गान गा तू

अब रहा हूँ मैं अकेला, और मेरी संगिनी
गई बिखर महफिल जमी, थी कुछ दिनों की रंगिनी
तज रहा हूँ गोद माँ की, जो रही शिवकारिणी
गा मधुर मन ! गान गा तू

सुन ज़रा ऐ दोस्त मेरे ! कठिन है यह रागिनी
स्वर बिखरने हैं लगे, है रूठी वीणावादिनी
अब बची है पास मेरे हम-कथा ओ काहिनी
गा मधुर मन ! गान गा तू

तुम जीवन में क्या ही आये, आ गई थी रोशनी
सप्तरंगी सृष्टि से बनी ज़िन्दगी वरदायिनी
हम कलंदर मस्त होकर थे पीते संजीवनी
गा मधुर मन ! गान गा तू

फिर कभी मंज़िल कहाँ ले जाएगी यह मानिनी
फिर क्रीड़ा शिशुसहज होगी कब कहाँ सुखदामिनीं
अब दशा हमराहियों की जलकमलवत् ही बनी
गा मधुर मन ! गान गा तू

{६७} अप्रैल, १९९८

दो गुरूओं का संमिलन

१

एक साथ दो गुरूओं के सुभ दरसन हुए,
री, भाग्य खिले !

पूरब में गुरू आया, ओ' पच्छम में शुक्र चला घर को
रूप-तेज दोनों के अनुपम, करते गरिमामय नभ को
इक-दूजे को देख निमिषभर दोनों ही कुछ कुछ हिचके
फिर अपनी ही मस्ती में धीरे धीरे नभ में विचरे

बृहस्पति का एकचक्री शासन पूरब में था फैला
आधे नभ तक नहीं कर पाता कोई उसका मुकाबला
कमंडलू-कौपीन लिये पच्छम में शुक्राचार्य तपे
अर्द्ध व्योम में लिये दनुगण-से उडुगण वे धीर चले

बीचोंबीच खड़ा है मंगल, भक्ति-भीति से लाल हुआ
बिछुआ से अनुनय कर उसने पारिजात का फूल लिया
माँग हँस से भी मोतिन की माल बना कर ले आया
गुरू-शुक्र के चरण-कमल धो लिए पुनीत गंगाजल से

देव-दनु की गोया इच्छा, शुक्र गुरू से भेंट करें
मध्यस्थी मंगल को बात जँची कि गुरू औ' शुक्र मिलें
पर मंजूर नहीं था दानव-गुरू को, वे मुख मोड़ चले
कमंडलू-लोटा ले अपना गगनरेख के पार चले

२

एक साथ दो गुरूओं के सुभ दरसन हुए,
री भाग्य खिले !

निराश हो मंगल भी आख़िर अपने घर की ओर गया
किन्तु इधर गुरूओं के मन में विचारबीच बोता ही गया
डेढ़ साल के बाद शुक्र ने गुरू को न्यौता भेज दिया
और इक-दूजे को हँस कर आलिंगन में बाँध लिया

दोनों के अति दिव्य तेज से नभ-प्रांगण जगमगा उठा
बैर-बिराधे समाप्त हुआ, नव शान्ति-मंत्र अब गूँज उठा
बात बताई हिरने ने जब, व्याध भी समझा, ठहर गया
उडुगण हरसे, चाँद खिला, आनन्द-गान अब गूँज रहा

एक साथ दो गुरूओं के सुभ दरसन हुए,
री भाग्य खिले !

{६८} जुलाई, १६६६

(विशेष नोट देखिए)

ढलन

ढलते रंग भी कितने सुन्दर होते हैं ।
चमकते तेज़ रंगों की तीव्र खुशबू,
और ढलते रंगो की हल्की-सी
भीगी-भीगी-सी महक !
कितनी सौंधी लगती है ।
सूरज जब ढल जाता है शाम को
और धीरे धीरे
कदम रखता है दूसरी दुनिया में अपने,
रंगों की सारी जमात उड़ती है तब उसके पीछे
अपने पंख पसारे,
कितनी सुन्दर
कितनी प्यारी !
वह भी,
जा कर दूसरी दुनिया में
सूरज के साथ,
तेज़ चमक देगी अपनी
तीव्र महक फैलाएगी
और फिर ढल जाएगी
सूरज के साथ ।
कितनी प्यारी लीला !
ढलते रंग भी कितने सुन्दर होते हैं !

ढलती उम्र भी कितनी सुन्दर होती हैं ।
जवानी की चहल-पहल

भभकभरी चकाचौंध, और
बूढ़ी आँखों की गहराइयों में से मिलती
पकेपन झाँकी !
वृद्ध जब ढल जाता है शाम को,
और कदम रखता है अपने,
मृत्यु की दूसरी दुनिया में धीरे धीरे,
उसकी सच्चाई की गहन अनुभूतियों से
पके हुए
रंगो की पूरी जमात चलती है उसके पीछे
अपने प्राण पसारे ।
कितनी भली
कितनी प्यारी !
वे भी
जा कर दूसरी दुनिया में
उस वृद्ध के साथ
तेज़ चमक देगी अपनी
तीव्र महक फैलाएगी
और फिर ढल जाएगी ।
यह नित्य नेमि-क्रम चलता रहेगा
सदा के लिए ।

ढलते रंग भी कितने सुन्दर होते हैं ।
ढलती उम्र भी कितनी सुन्दर होती है ।

{६६} अक्तूबर, १६६८

अहम्

अहम् का पहला लक्षण ‘मैं’ !
जित देखूँ मैं ही हूँ तित ही
दूजा दिख नहीं पड़ता,
फिर भी अन्धे की नाईं वह
खुद को देख न सकता,
‘मैं’ का पर्दा कभी न खुलता
नाटक चलता रहता ।
अहम् का पहला लक्षण ‘मैं’ !

अहम् का दूजा लक्षण स्वार्थ !
बटोरता रहता है प्राणी
सब कुछ अपने अर्थ,
जितने जीव यहाँ, सबके
जीना उसके ही अर्थ,
सबके कंधों पर चढ़ कर
मंज़िलें चढ़ता व्यर्थ ।
अहम् का दूजा लक्षण स्वार्थ !

अहम् का तीजा लक्षण ठगी !
‘गहरे पानी पैठ’ समझ
सतहों पर तिरता रहता,
खुद की ठगाई के नभ में वह
पाँखें पसार उड़ता,
काम कराता दूसरों से,
छल कर उचित बताता !
अहम् का तीजा लक्षण ठगी !

अहम् का चौथा लक्षण सीख !
अपना अर्थ बता जीवनका,
तोड़-मरोड़ मचाता,
''परोपदेशे पाण्डित्यम्''
अंदर कुछ बाहर बनता
भीतर की परतें नहीं खुलतीं
दूजे की खुलवाता ।
अहम् का चौथा लक्षण सीख ।

{७०} जुलाई, १९९६

जन्म–दिन

चलो एक दिन मैं मुझको दूँ ।
यह दिन मेरा जन्मजात अधिकार है
यह दिन मेरे जीवन का एतबार है ।
यह वह दिन है,
जहाँ संगम होता है
करूणा और हर्ष का,
मौन और मुखर का ।
यह मेरा दिन है,
इसका मैं चाहूँ सो करूँ
चलो एक दिन मैं मुझको दूँ ।

यह मेरा दिन है
इस एक दिन का मैं वह सब करूँगा
जो नहीं कर पाया
बरसों से ।
‘गर चूमना है तो चूम लूँगा इसे ।
फेंक दूँगा गुड़ी-मुड़ी बना कर इसे ।
मर्ज़ी हुई, कीचड़ बना कर रौंदूँगा ।
रोटी बेलूँगा आटा पीस कर उसका ।
अपने दिल के चरखे पर काँटूगा इसे ।
और पहनूँगा कपड़ा बना कर इसका ।
बच्चा बना के इसके साथ खेलूँगा ।
और बनाऊँगा इसे अपनी हारिल की लकड़ी ।

गला दबा कर मार डालूँगा मैं इस एक दिन को ।
या अपने खून का अमि पिला कर अमर बना दूँगा ।
हँसी का रॉकेट बना कर अवकाश में भेज दूँगा ।
पछाड़ूँगा समंदर में आँसू का हाहाकार बना कर ।
चलो एक दिन मैं मुझको दूँ ।

इस एक दिन की करूँगा मैं खेती
जीवन के खेत में अपने,
और उपजाऊँगा एक नये विश्व का धान ।
यह मेरा दिन है ।
इसका मैं चाहूँ सो करूँ
चलो एक दिन मैं मुझको दूँ ।

इस एक दिन की विचित्रता यह है कि,
जो केन्द्रबिन्दु है इसका
वही परिधि है इसकी,
और जो सीधी-सरल रेखा है इसकी,
वही विभिन्न परिमाण हैं इसके ।
तब भी
गुत्थी नहीं है कहीं कोई
उलझन नहीं है कहीं कोई ।
चलो एक दिन मैं मुझको दूँ ।

पीछे मुड़ कर मैं नहीं देखता
पत्थर हो जाऊँगा न ।
बस आगे देखता चलता हूँ
एक आँख से,
और दूसरी से आज को ।
वैसे तो एक आँख और भी रखी है मैंने

पीछे देखने के लिए ।
यदि स्वप्नदृष्टा हूँ
ते त्रिकालदर्शी भी ।
यह दिन मेरा है
इसका मैं चाहे सो करूँ
चलो एक दिन मैं मुझको दूँ ।

नव्वे साल बीत गये
नव्वे साल के दिन बीत गये
तब मिला है मुझको यह एक दिन ।
कोई दूसरा ही छीन जाता था इसको
हर बार
या मैं ही दिया करता था इसे किसी को
हर बार ।
अब आज जब मैं दे रहा हूँ मुझको
यह एक दिन
तो ख़ूब मज़ा मारूँगा इसके साथ मस्ती से,
मौज उड़ाऊँगा इसके साथ धूमधाम से,
लगा के रखूँगा मैं इसे अपने सीने से,
प्रेमी की तरह ।
खर्च बिलकुल नहीं करूँगा मैं इसे,
कंजूस की तरह ।
ऐसा खींचूँगा इस एक दिन को मैं कि,
एक बरस बन जाएगा यह ।
जीवन और मृत्यु दोनों आयेंगे
दौड़ते हुए,
और रह जायेंगे स्तब्ध
देख कर
यह चमत्कार ।

यह मेरा दिन है
इसका मैं चाहे सो करूँ ।
चलो एक दिन मैं मुझको दूँ ।

{७१} अगस्त, १६६६/२०१८

पत्नी के प्रति

जब हम-तुम मिले,
तुम्हारी घड़ी में ग्यारह बजे थे
और मेरी में एक ।
पाटने का प्रण लिया था हमने समय को
और मिलाने का दो कांटो को ।
मेरा कांटा रहा रूकता-चलता
और तुम्हारा रहा चलता-दौड़ता,
इसी हेतु !
समय हो गया है अब यह देखने का कि,
मिल पाये हैं या नहीं
हमारे जीवन की घड़ी के दो कांटे !

रोमान्स होता है प्रेमियों का प्रधान रस,
जीवन-जल ।
फिर भी अल्प-जीवी ।
रोमान्स पगता है प्रेम की जड़ी-बूटी में,
काल उसे कूटता है और
पल उसे पीटता है ।
विश्वास उसे घूंटता है और
समर्पण उसे सँवारता है ।
पक जाता है रोमान्स प्रेम में और
परिवर्तित हो जाता है प्रेम संजीवनी बूटी में,
जिससे निकलता है
अमीजल

घना,
घुटा हुआ
चिरंजीवि !
समय आ गया है अब यह देखने का कि,
परिवर्तित हुआ है या नहीं
हमारा प्रणय
सरस, घनीभूत
संजीवन-रस में ।

एक गहरा फैलाव है
आकाश के भीतर,
वरना न बादल आ सकते हैं,
न हो सकती है बरसात,
मिट्टी मर जाती कोरी की कोरी ।
एक गंभीर आर्द्रता है
महासागर के भीतर,
वरना न जीवन पनप सकता है,
न घूम सकती है यह पृथ्वी,
शिलाखंड ही रह जाती पूरी की पूरी ।
किसान का हल ही तो बनाता है
माटी से सोना ।
क्षितिज की धारा ही तो मिलाती है
नभ-धरती का कोना ।
हमारा वह प्रथम मिलन,
हमारी वह अंतिम बिदाय,
न फिर से होगा,
न फिर से होगी ।
तब फिर समय आ गया है यह देखने का कि,
बन पाये हैं हम

फेला हुआ आकाश,
पारसमणि-सा हल,
सामञ्जस्य-रूप क्षितिज !

प्रेम का स्वरूप समझना हो तो देखो
धरती और आकाश को ।
जब से हुआ जन्म,
घूम रही है धरती
अभिसारिका बन कर आकाश की ।
और हाथ फैलाता चला जा रहा है
यह धीरोदात्त नायक आकाश
अपनी धरती को पाने को ।
तब भी यदि मिल सकते हैं तो
केवल उस दूर क्षितिज पर,
जहाँ दोनों के बीच में
बराबर मौजूद रहती है यह क्षितिज-रेखा,
जिसे वे लांघ नहीं सकते ।
उदाहरण नहीं मिलेगा विश्व में
ऐसे उदान्त प्रेम का ।
अब समय आ गया है यह देखने का कि,
क्या बन पाये हैं हम-तुम
धरती और आकाश ?

{७२} अगस्त, १६६६

(कार्गिल के बाद)

भारत पर आक्रमण

राक्षस आये हैं भारत में सीमारेखा करके पार
बुरी नीयत से आये हैं घुसपैठी हम पर करने वार

अभी उन्होंने नहीं सुना, शूरवीर कैसे होते हैं
अभी उन्होंने नहीं देखा, रणवीर कैसे लड़ते हैं
अभी उन्होने नहीं समझा, बलवीर कैसे जूझते हैं
आँख खुली उनकी, जब दिया खदेड़ सबको सीमा-पार

आज उन्होंने देखा है, बलिदानी कैसे होते हैं
आज उन्होंने भुगता है, अभिमानी कैसे अड़ते हैं
आज उन्होने समझा है, वरदानी क्या वर देते हैं
जान बची लाखों पाये, कहते नापाक हुए सब पार

किराये के लड़वैये कब तक दिलाएँगे दुश्मन को जीत ?
ढाल बनेंगे कब तक भाड़े के टट्टु बन कर मन-मीत ?
शीश गिरे श्रीफल-से पीछे हट करके भागे वे भीत ।
कभी नहीं आएँगे बाबा ! जाने दो ज़िन्दा उस पार !

{७३} अगस्त, १९९९

(कार्गिल के बाद)

मूँछ-फूटा जवान

पहली बार मैदाने-जंग में आया हूँ,
जवान हूँ, मूँछ-फूटा हूँ, पर
खून उबलता लाया हूँ ।

बीच अहिंसा-हिंसा के मैं पिस रहा हूँ,
बीच युद्ध औ' शान्ति के मैं घुन रहा हूँ ।
सब कुछ सहना धर्म, न दुश्मन की मनमानी ।
धर्म राष्ट्र-रक्षा का भी है,
उसे निभाने आया हूँ ।
खून उबलता लाया हूँ ।

त्रासवाद और आक्रमणों का दैत्य खड़ा है,
अनसुनी-अनदेखी करके विश्व खड़ा है,
भूल भाईचारा, भाई से भाई लड़ा है,
धर्म एक बनकर लड़ना है,
उसे निभाने आया हूँ ।
खून उबलता लाया हूँ ।

{७४} अगस्त, १९९९

(कार्गिल के बाद)

जम्मू और कश्मीर

जम्मू-कश्मीर एक राज्य है,
भारत का अविभाज्य भाग है ।

कश्मीर को जम्मू से जुदा किया, कि उसकी जान गई ।
जम्मू को कश्मीर से जुदा किया, कि उसकी जान गई ।
दुनियावालो ! भारतमाता का यह अंग अकाट्य है,
जम्मू-कश्मीर एक राज्य है ।

अनजाने में आकर कोई चाल कुटिल कोई चल गया,
कूटनीति का खेल खेल फूट का बीज चुप से डाल गया,
विषमय बीज को पानी देना, मित्रो ! कब तक न्याय है ?
जम्मू-कश्मीर एक राज्य है ।

अब के कोई नहीं फँसेगा जुदाई-मायाजाल में,
अब के कोई नहीं फँसेगा मज़हब-मायाजाल में,
अब के कोई नहीं लड़ेगा, यह भूमि अविभाज्य है ।
जम्मू-कश्मीर एक राज्य है ।

{७५} अगस्त, १९९९

(कार्गिल के बाद)

भारत और पाकीस्तान के प्रति

समझो बन्दे पाकीस्तान !
समझो बन्दे हिन्दुस्तान !
जागो देखो आँखें खोलो
दुहराना न वही दास्तान !

शरीर अलग है तुम दोनों का, अलग रहेगा, यह समझो
मन तो फिर भी एक ही ठहरा, एक रहेगा, यह समझो
फिर झगड़ा करने से क्या पाओगे ? ग़ौर करो, गुन लो
जागो, देखो, आँखें खोलो,
दुहराना न वही दास्तान !

काहे फँसे साम्राज्यवादियों के शब्दों की जाली में ?
क्यों फिसले संस्थानवादियों के सूत्रों की काई में ?
कभी नहीं ऊँचा उठने देने की चाल निराली में ?
जागो, देखो, आँखें खोलो,
दुहराना न वही दास्तान ।

{७६} अगस्त, १९९९

(कार्गिल के बाद)

मेरी अहिंसा

मेरी अहिंसा नहीं कायर की !

जब तक बस चलता, सह लेता, बातें, घातें दुश्मन की
हद को पार करे वह शत्रु, बारी तब मुठभेड़ की
मेरी अहिंसा नहीं कायर की !

पंचशील में श्रद्धा मेरी, उसे निभाता चलता हूँ
पर जब कोई शील छोड़ता, बारी तब तलवार की
मेरी अहिंसा नहीं कायर की !

साथ साथ सब रहें, साथ सब जियें, साथ फूले-फलें
पर जब कोई धोखा देता, बारी तब ललकार की
मेरी अहिंसा नहीं कायर की !

{७७} अगस्त, १६६६

(कार्गिल के बाद)

अणुशस्त्र

अणुशस्त्रों का नाश करो, भारतवर्ष ! पाकीस्तान !
इक-दूजे विश्वास करो, भारतवर्ष ! पाकीस्तान !

यदि कोई भिड़वाता तुमको, तो क्या तुम भिड़ जाओगे ?
कोई उकसाता यदि तुमको, क्या सचमुच तुम उकसोगे ?
छोड़ो बालिश बातें, छोड़ो भीतर का मिथ्या उफ़ान ।
भारतवर्ष ! पाकीस्तान !

जग कहता है, शासन अपना कभी नहीं कर पाओगे
हुए भले आज़ाद, कभी आबाद नहीं हो पाओगे
सह सकते कैसे हो तुम इतनी हाँसी, इतना अपमान ।
भारतवर्ष ! पाकीस्तान !

शस्त्रों से शान्ति नहीं मिलती, युद्धों से नहीं प्रेम
सदियाँ बोलें बात पुरानी, सुन लो, सोचो क्षेम
भ्रम से मुक्त बनो, मित्रो ! कर लो दिल का आदान-प्रदान
भारतवर्ष ! पाकीस्तान !

{७८} अगस्त, १९९९

(कार्गिल के बाद)

दक्षिण एशिया के देश

दक्षिणेशिया के सब देश जाग सकें तो अच्छा हो
द्वेष परस्पर, बैर परस्पर छोड़ सकें तो अच्छा हो

तथाकथित ये महासत्ताएँ घेर रही हैं इन सबको
उनके चंगुल से जो ये सब छूट सकें तो अच्छा हो

अर्थ तंत्र के धनी राष्ट्र एकाधिकार ले बैठे हैं
उनके अंध इजारे को ये तोड़ सकें तो अच्छा हो

जग के विकसित देश इन्हीं को ताक रहे हैं बरसों से
हो कर एक, उन्हें कुछ करतब दिखा सकें तो अच्छा हो

भला परस्पर है इन सबका एक साथ मिल रहने में
यह पयाम ये देशनिवासी समझ सकें तो अच्छा हो

{७६} अगस्त, १९९९

(कार्गिल के बाद)

भारत-पाक निवासी

हम हैं भारत-पाक निवासी
नेक सभी इन्सान, न कोई हिन्दू, मुस्लिम, सिक्ख, इसाई
हम हैं भारत-पाक निवासी

धर्म हमारा प्रीत निभाना, मज़हब भ्रातृ भाव बढ़ाना
लड़ना नहीं है काम हमारा, मिल कर रहना ध्येय हमारा
वचन हमारा, हम सब साथी
हम हैं भारत-पाक निवासी

देश के संस्कारी बन्दे हम, देश के अभिमानी बन्दे हम
दोनों देशों के बीच अब से एका लाएँगे ज़रूर हम
बात यह पक्की, हम सब साथी
हम हैं भारत-पाक निवासी

दोनों देशों में आबादी औ' समानता स्थापित करना
सबकी तरक्की के भावों को सचकर के जग को दिखलाना
गले लग जाएँ हम सब साथी
हम हैं भारत-पाक निवासी

एक बड़ा परिवार हमारा, दक्षिणेशिया का है प्यारा
अलग अलग फिर भी एका है हममें, जगमें सबसे न्यारा
न्यारे रहेंगे हम सब साथी
हम हैं भारत-पाक निवासी

अब के बैर जलेगा ख़ुद ही, अबके द्वेष दलेगा ख़ुद ही
दुश्मनी ख़ुद दुश्मन होगी, घर घर में नव ज्योत जलेगी
शपथ हमारी, हम सब साथी
हम हैं भारत-पाक निवासी

{८०} अगस्त, १६६६

दो देशों का नागरिक

मैं दो देशों का नागरिक !
जन्मा भारत में
किन्तु बना कर्मो से अमरिकन
दोनों का प्रेमिक ।
मैं दो देशों का नागरिक ।

काला नहीं, न गोरा मैं
खिस्ती न हिन्दू, नहीं मुसलमीन
मनुष्य हूँ,
हूँ निभा रहा कर्तव्य,
अमन का सच्चा प्रेमिक ।
मैं दो देशों का नागरिक ।

संकट भारत का है मेरा
संकट यु० एस० का भी मेरा
समर्थ हूँ,
हूँ निभा रहा युगधर्म,
शमन का सच्चा प्रेमिक ।
मैं दो देशों का नागरिक ।

{८१} अगस्त, १९९९

दिल के प्रति

दिल ! तू रूक जा रे !
नींद के देश की नौका आई, चढ़ कर सो जा रे ।
दिल ! तू रूक जा रे ।

पल पल छिन छिन घड़ी की नाई टिक टिक करता रे !
ऐसा लगता, समय रूकेगा, तू न रूकेगा रे !
दिल ! तू रूक जा रे ।

ले समेट जीवनभर की जो थकान सिमट रखी है
कर दे बन्द बिसाह, ऊर्मि की दुकान खोल रखी है
दिल ! तू रूक जा रे ।

जीवन तो नासमझ, मूढ़ है, करता रहता घात
मृत्यु जैसा दोस्त नहीं, जो समझे तेरी बात
दिल ! तू रूक जा रे ।

चिपक रहा क्यों जीवन से अब तक ? मेरे नादान !
समय रूका है तुझे उठाने, उठ जा ओ अनजान !
दिल ! तू रूक जा रे ।

{८२} जनवरी, २००२

मन पर आवरण

मन पर चाहिए मेरे एक महीन-सा आवरण

कभी मैला हो जाता है वह, कभी उजला-सा दिखता है
कभी सुख-साँसु, कभी दुःख-हाय, रंग रंग में रंगता है
द्वन्द्वों की दुनिया से करता है उसका उद्धारण
मन पर चाहिए मेरे एक महीन-सा आवरण

राजहंस से लाऊँगा मैं माँग तैल की ग्रन्थि ज़रा
खाके थपेड़े पानी के फिर भीगेगा मन नहीं ज़रा
बूँदें सारी ढल जाएँगी, चिन्ता का नहीं होगा कारण
मन पर चाहिए मेरे एक महीन-सा आवरण

जा सूरज से माँग लाऊँ कुंडल औ' कवच सुदिव्य-से
फिर लपेट दूँ उनको अपने मन के चारों ओर प्रेम से
भेदे जायें न कभी किसी से, स्वर्ग-नर्क का बने निवारण
मन पर चाहिए मेरे एक महीन-सा आवरण

{८३} जनवरी, २०००

महा यज्ञ की आहुति

महा यज्ञ की आहुति हूँ मैं !
प्रसन्न करने धरती के देवों को जो दी जाती है,
महा यज्ञ की आहुति हूँ मैं !

यह आहुति है ऐसी, जो धीरे धीरे जलती है
जलने पर भी जो पूरी दिनरात, कभी नहीं सूखती है
धीरे धीरे क्षीण होने पर भी अग्नि से जूझती है
महा यज्ञ की आहुति हूँ मैं !

मेरे जन्म को बना के बेदी यज्ञ किया जाता है
अध्वर्यु है जीवन, मेरा अर्घ्य दिया जाता है
उद्‌गाता बन मृत्यु सुंदर सामगान करता है
महा यज्ञ की आहुति हूँ मैं !

स्वर्ग और सुख के कामी जन स्वर्गकाम करते हैं
तिल तिल मेरा ले, देवों को यज्ञ भाग देते हैं
होगी इच्छापूर्ति समझ, फूले वे नहीं समाते हैं
महा यज्ञ की आहुति हूँ मैं !

खुशी खुशी जलता हूँ बन कर अर्घ्य हवन का इस मैं
थोड़ा थोड़ा सबको देता यज्ञभाग उनका मैं
होगा पूरा यज्ञ, पूरा जब स्वाहा हो जाऊँगा मैं
महा यज्ञ की आहुति हूँ मैं !

{८४} जनवरी, २०००

जरावस्था

झुर्रियाँ पड़ने लगीं
अब त्वचा इस देह की चुपके से पलटाने लगी

मलमली-सी, रेशमी-सी सोहती थी जो कभी
देखती हूँ, वह अचानक खुरदुरी होने लगी
झुर्रियाँ पड़ने लगीं

खींचती थी एक दिन जो चित्र सुंदर रंग के
उँगलियाँ वे खुद विविध अब चित्र बन जाने लगीं
झुर्रियाँ पड़ने लगीं

साफ़-सुथरी-सी सदा चमड़ी जो रहती थी कभी
आज देखो ! पिण्ड हो बरबस लुढ़कने भी लगी
झुर्रियाँ पड़ने लगीं

{८५} जनवरी, २०००

एलियन गन्ज़ालेस

माँ क्या, री ! मानवता डूबी ।
राजनीति के दावपेंच में मायूस-सी ममता जा डूबी ।

कूटनीति के कुटिल खेल का मुहरा बन रह गया यह बच्चा
कोमल मन इस खींचतान में क्या समझे झूठा क्या सच्चा ।
सुंदर स्वांग सजाये सस्मित दिखती दानवता अपरूपी
माँ क्या, री ! मानवता डूबी ।

इधर-उधर फेंका जाता यह छोटा-सा, मासूम-सा शिशुमन
अबोध को यह उलझन देते बड़े बड़े क्यों सभी प्रलोभन ?
इस चौराहे पर आ कर अब कहाँ जा रही जीवन-छकड़ी ?
माँ क्या, री ! मानवता डूबी ।

कितने बच्चे अमेरिका से वापिस भेज दिये जाते हैं ।
कितने ही बच्चे क्यूबा में भटक भटक कर मर जाते हैं ।
आज वर्ष छह के बच्चे में आ बैठी यह कैसी नीति ?
माँ क्या, री ! मानवता डूबी ।

{८६} जनवरी, २०००

(देखिए नोट)

वतन का छूटना

वतन छूट रहा है,
छूट रहा है मेरा गाँव मुझसे ।
जी नहीं,
वतन नहीं छोड़ रहा है मुझको,
मैं छोड़ रहा हूँ वतन को ।
वतन छूट रहा है

वतन,
जिसकी भूमि है आर्द्र,
हृदय-की-सी,
ज़रा-सा कुरेद दिया
उसके अंग के किसी भी अवयव को,
जलबिन्दु निकल आती है बाहर
अश्रुबिन्दु-सी !
वतन रो पड़ता है वियोग में,
वतन छूट रहा है ।

कैसा सहृदय है वतन अपनों के लिए ।
कैसा संगदिल हूँ मैं भी वतन के लिए ।
बड़ी कठोर और तीक्ष्ण है मेरी हृदयभूमि,
राक्षसी शिलाखंडों से भरी हुई ।
जिस वतन ने मुझको इतना प्यार दिया,
दुलार दिया,
(जैसे वह मेरी माँ ही न हो)
जिस वतन ने मुझको नया जीवन दिया,
स्नेह दिया,

(जैसे वह मेरा पिता ही न हो)
जिस वतन ने मेरा उत्कर्ष करवाया,
गौरवान्वित करवाया,
(जैसे वह मेरा अभिभावक ही न हो)
उसी वतन को छोड़कर जा रहा हूँ आज मैं
निर्ममता से
निर्दयता से
कृतघ्नता से,
एक कपूत की तरह !
वतन छूट रहा है ।

यह वतन क्या है, बरगद का पेड़ !
एक सुन्दर घोसला बनाया था मैंने
जिसकी ऊँची डाली पर,
जीवन की शिक्षा-दीक्षा पाई थी मैंने
इस बरगद की शीतल छाँव में,
एक पूरा संसार बसाया था मैंने
इसी की पत्तियों-शाखों में ।
अचानक ही
तहस-नहस कर दिया उसको
मन के मर्कर ने,
अज्ञान के अंध खेल में !
अब चल पड़ा हूँ अपना नष्ट-नीड़ हाथ में ले कर मैं
निर्ममता से
निर्दयता से
कृतघ्नता से,
एक कुलांगार की तरह,
वतन छूट रहा है ।

{८७} मार्च, २००२

घर के दुश्मन

मेरे घर में ही मेरे विरोधी बसते हैं,
जिऊँ तो जिऊँ कैसे ?
मेरे घर में ही मेरे दुश्मन रहते हैं
निबटूँ तो निबटूँ कैसे ?

कोने कोने में बिछे हैं मकड़ी के जाल
हटाऊँ कि दूसरे बने ।
रज-रज में रहते हैं मच्छरों के महीन बाल
नाश करूँ कि नये जन्मे !
चींटियाँ घूम रही हैं छोटी-बड़ी विकराल
मारूँ कि नई सेना विशाल ।
कदम कदम पर मिलता काल कराल ।
बचूँ तो बचूँ कैसे ?

जिसको बड़ा किया पाल-पोस कर
उस शरीर ने भी नहीं किया नमक हलाल !
अंगोपांग के विद्रोह से हो गया हाल बेहाल,
जाने क्या होगा हाल-हवाल !
हृदय भी नीति-नियम तोड़ता रहता है
बेढंगा चलता रहता साल-ब-साल ।
रोम-रोम ने मचा रखा है भूचाल,
सँभालूँ तो सँभालूँ कैसे ?

मेरे घर में ही मेरे विरोधी बसते हैं
जिऊँ तो जिऊँ कैसे ?

{८८} मई, २००३

मन की गूँज

मन ही मन तू गुन ले, भाई ! प्रकाश मत कुछ बोल
मन ही मन स्वर भर ले, साँई ! बाहर गूँज न खोल

मन की दुनिया दुनिया तेरी, तू मन है, मन तू
अंतरपट को खोल, झाँक, जीवन का कर ले मोल
तू बाहर गूँज न खोल

शादी की शहनाई के-से बसुरे सुर मत डोल
अमृत-से उर के गाने में संजीवन-रस घोल
तू बाहर गूँज न खोल

गुन गुन कर चुन ले तू मोती जीवन के अनमोल
शान्त स्वरों में भीतर ही नुरीयावस्था में डोल
तू बाहर गूँज न खोल

{८६} जून, २००३

उदासीन

अब हम सब तटस्थ हो जायें
उदासीन हो कर जीवन का धर्म, मृत्यु का मर्म समझ लें
अब हम सब तटस्थ हो जायें

अपने अपने होते भी सब लगने लगे पराये मन को
मिथ्या सपना कह कर ठुकराये जीवन के यथार्थ धन को
उपाधियाँ तो होती हैं, फिर भी हम व्यथा-मुक्त हो जायें
अब हम सब तटस्थ हो जायें

‘‘द्वन्द्वोंमय मानव-जीवन है’’, आधी-अधूरी बात हुई
जो केवल मन की उपज, छूटना उससे, यह बात हुई ?
बिबिधमुखी जीवन जीते हम सब समरस सच में हो जायें
अब हम सब तटस्थ हो जायें

{६०} सितंबर, २००१

कविता

(कवयित्री सुश्री निर्मला जी ने कहा : “मेरी कविता तो खाली होती है”)

कविता कभी खाली नहीं होती,
यदि खाली है तो वह कविता नहीं होती,
कविता कभी खाली नहीं होती

कविता सदा भरी भरी होती है,
भावनाओं की हरी-भरी भावभूमि से
आर्द्र : ह्दय-वृक्ष से चिपकी हुई
उर्मिलताओं से आच्छन्न ; मनोनभ में फैले
चिन्तन के चाँद-सितारों से संचित ।
कविता सदा भरी भरी होती है ।
कविता कभी खाली नहीं होती ।

कविता कभी मूक नहीं होती,
यदि मूक है तो वह कविता नहीं होती।
जब मूक लगती है कविता,
मुखर ही रहती है तब भी वह
भीतर ही भीतर ; मौन-मुखर ध्वनि में ।
कविता सदा बोलती रहती है लोकबोली में,
गुनगुनाती रहती है रातदिन वह
अस्खलित धाराप्रवाह गुंजन में ।
गूंजता रहता है छंदोलय का संगीत

सदा संसार में, शब्दों के सुरताल के साथ ।
घोलती रहती है कविता अगद-रस जीवन में ।
कविता कभी मूक नहीं होती,
कविता कभी खाली नहीं होती ।

{६१} दिसंबर, २००१

भीड़ से घबराहट

भीड़ से घबराता हूँ मैं !
डर यह नहीं कि जेब कटेगी,
मुझको भीड़ कुचल डालेगी ।
सच तो यह कि
नर्वस हो जाता हूँ मैं,
भीड़ से घबराता हूँ मैं ।

भीड़ में चलते चलते मैं लोगों को देखा करता हूँ
कारें, ट्रक, सब-वे ट्राफ़िक, हो त्रस्त ताकता रहता हूँ
जाने किस रास्ते से आया और कहाँ चल देता हूँ ।
भीड़ से घबराता हूँ मैं ।

एक के आगे, एक के पीछे, एक के बाद, एक के साथ
धक्के देते, धक्के खाते, निजी जाल में उलझे साथ
मैं भी जंगे-जीवन में प्राणों की बाजी लगाता हूँ
भीड़ से घबराता हूँ मैं ।

भीड़ में फँसकर गुमसुम होकर सोच-समझ खो देता हूँ
भीड़-विश्वरूप-दर्शन से मैं भयविभोर हो जाता हूँ
आदि, अन्त और मध्य-हीन की स्तुति करने लग जाता हूँ
भीड़ से घबराता हूँ मैं ।

{९२} नवम्बर, २०००

साल मुबारक

सबको साल-मुबारक हो ।

नया दिवस लाया है अपने साथ नया निर्दोष बरस
शिशु-सा सुन्दर यह मासूम सदा सबको मंगलमय हो
सबको साल-मुबारक हो ।

नई सभ्यता के प्रकाश ने चकाचौंध कीं जग-आँखें
मानव-संस्कारों का उस पर महीन-सा इक ढक्कन हो
सबको साल-मुबारक हो ।

मानव की, मानव-समाज की, मानवता की उन्नति के
पथ पर जो सूरज गावे, उन मूल्यों का गायन हो
सबको साल-मुबारक हो ।

{६३} जनवरी, २००३

बसन्तोत्सव

रिमझिम रिमझिम नर्तन करता बसन्त आया, री !
राग-रंग से सबको जिलाता बसन्त आया, री !

रंगमंच पर प्रकट हुआ अवतार स्कंक का योगी,
घूम रहा निर्भीक निपट, निश्चिन्त मनु निर्मोही !
अमोघ है ब्रह्मस्त्र गंध का, इससे बचकर रहना, री !
रिमझिम रिमझिम नर्तन करता बसन्त आया, री !

बसन्त के रागों में राग मिलाने आया रोबीन,
मौन-मुखर वाणी से भरता सुर में सुर है पलछिन !
टिक् टिक् ताल बजाता छिपकलियों का झुंड भी आया, री !
रिमझिम रिमझिम नर्तन करता बसन्त आया, री !

हल्की हल्की बूँदें गातीं रूमानी मस्तानी धून,
पवन-चलित फूटी कोंपल भी अलापती नवजीवन धून !
डेफोडिल ने भी सुन सस्मित सिर अपना हिलाया, री !
रिमझिम रिमझिम नर्तन करता बसन्त आया, री !

पूरब-की कोयल की अद्भुत दंतकथा मरूत् ले आया,
बफ़ेलो बर्ड की मादा ने भी सुनकर उसका लाभ उठाया,
चुपके से उसने अंडा ब्लु जे के नीड़ में छोड़ा, री !
रिमझिम रिमझिम नर्तन करता बसन्त आया, री !

{६४} अप्रैल, २००६

नोट : स्कन्क (Skunk) : एक छोटा जानवर, जो अपनी रक्षा के लिए दुगन्ध-युक्त और कुछ ज़हरीला प्रवाही छिड़कता है ।

बफ़ेलो बर्ड : Buffalo Bird, Brown-headed Cowbird: इस पंछी की मादा अपने अंडे दूसरे पंछियों के,विशेष करके, ब्लु जे के घोसलों में छोड़ आती है ।

ब्लु जे : Blue Jay: एक अत्यंत सुन्दर पक्षी ।

सुख-दुःख

सुख को सुख मैं नहीं समझता
दुःख को नहीं मैं दुःख
भेद नहीं आँसू-मोती में
समान अपना रूख़

यदि देखो तो स्थान प्रमुख
लेता जीवन में दुःख
पैदा होते ही पुकारता
शैशव अपना दुःख

और स्थान अंतिम भी लेता
मरणहार का दुःख
घर में भी मातम ही मातम
हँसता दुःख ही दुःख

किन्तु अन्त-आरंभ-मात्र से
कोई न होता प्रमुख
जीवन पूरा करता शासन
अपना सुख ही सुख

मेरा मन तो यह कहता है
कोई नहीं प्रमुख
निर्विकार से कमल-पत्र के
समान अपना रूख़

{६५} जून, २००३

समझ का खंडहर

समझ खंडहर हो गई,
यह इमारत गगनचुंबी झपक में ही झड़ गई ।
जिस तरह मीनार वैश्विक,
या हिरोशिमा नगर वर,
द्रुतगति अवकाश-पुष्पक ।
गगनभेदी नाद कर नभ से धरा पर ढह गई
समझ खंडहर हो गई

जिस समझ का द्वार मुख्य बुलंद रहता था खुला
जिस इमारत का बड़ा प्रांगण हरा रहता सदा
जिसके वातायन पवन-संदेश सुनते थे सदा,
और सुनकर सोचते, गुनते, सुनाते फिर नया
नींव उसकी खोद, डावाँडोल कोई कर गया
उपहास-सा करता गया, और एक धक्का दे गया
निमिक में ही हाय । ढल गई
समझ खंडहर हो गई

हम समझते, व्यष्टि और समष्टि का संबन्ध 'ऐसा'
हम समझते, संस्कृति औ सभ्यता का बाँध 'ऐसा'
हम समझते, युद्ध शांति, विनाश का है अर्थ 'ऐसा'
हम समझते, त्रास औ आतंक का चेहरा है 'ऐसा'
तब किसी ने यह कहा, ''ना, लो ! मुखौटा पहन लो यह
मैं कहूँ यही सच है, समझे ? मान लो, कर लो भरोसा !''

पलक में ही हाय ! मिट गई
समझ खंडहर हो गई

काटने चक्कर लगे अब समझ के प्रासाद में,
बेझिझक हो ढोंग घूमता, दंभ भी गृहकक्ष में,
हैं मुखौटे टहलते रहते हमेशा मस्ती में,
धूर्तता, पाखंड भी, जंगालियत भी, रंग में,
नाच इनका चल रहा निर्लज्ज त्रासक ताल में,
बोज़ यह न उठा सकी सब समझ, ढह गई रंज में,
यह ज़मीं भी हाय ! फट गई,
समझ खंडहर हो गई

{६६} जून, २००३

दीवाली और क्रिस्टमस

बड़ी उमंगें लेकर आई थीं हम इस दुनिया में
निराश हो मनुजों से, वापस चलीं अपनी दुनिया में
सुना, बड़ी पूजा होती संस्कारों की दुनिया में
देखा, नोच रहे हैं मानव संस्कृति को दुनिया में

बघार होता है आदर्शों का दंभी दुनिया में
खाने मिलते सड़े स्वार्थ के टुकड़े इस दुनिया में
दीप जलाने से क्या होता अंधी इस दुनिया में ?
दिल में काल-कराल अँधेरा फैला है, दुनिया में

बीस साल क्या नहीं पटाख़ें रूक सकते दुनिया में ?
बीस साल नहीं शौक़-शराबे रूक सकते दुनिया में ?
बीस साल सबका मंगल हो नहीं सकता दुनिया में
बीस साल नहीं भलाई सबकी हो सकती दुनिया में ?

बना रखा संयुक्त राष्ट्र का संघ बड़ा दुनिया में !
नहीं कर सकते, अरे ! सरल प्रस्ताव एक दुनिया में !
आज चलीं वापस हम दोनों बहनें निज दुनिया में
दीवाली-नाताल मनाना हम बिन तुम दुनिया में

नया साल भी तुम्हीं मनाना खुशी खुशी दुनिया में
आज़ादी का जश्न, सभी त्यौहार, सड़ी दुनिया में
नई संस्कृति की किरणें फेलेंगी जब दुनिया में
आएँगी वापस, तब तक अल्-बिदा रही दुनिया में

{६७} दिसंबर, २००३

एक जीव की जीवन-यात्रा

आया था जब मैं यहां पृथ्वी पर, कोई भी साथी न था
छोटे जन्तु तरह शिशु विवश था, असहाय, अनजान था
रोया, चिल्लाया पटक पटक सिर, सुनता न कोई भी था
मानव तो है ख़ैर ! स्वार्थ पुतला ! ईश्वर भी साथी न था
शुरू की थी जीवन अरू मरण की खोज तब से
चढ़े-उतरे क्रमशः नितनवीन सोपान तब से

बिनु भगवान बिता दिया कुछ समय, क्या मस्त जीवन रहा ।
फिर हुआ ईश्वर-प्रवेश मन में ईश्वर-बसेरा हुआ
माला-फेरन, ध्यान के धरन में कुछ वर्ष जीवन कटा
जीवन के सब मर्म को समझने ईश्वर-सहारा लिया
रही जारी जीवन अरू मरण की खोज तब भी
चढ़े-उतरे काफी नित नवीन सोपान तब भी

ईश्वर ने दीं भेज युग्म भगिनी आस्था व भक्ति यहाँ
आया ज्ञान भी कुंभ एक नव ले गोपन रसों से भरा
किन्तु प्यास बुझी न भूख मन की, चलता रहा मैं सदा
तब लाया नवयुग चिन्तन-मनन, भगवान पीछे छूटा
रही जारी जीवन अरू मरण की खोज तब भी
चढ़े-उतरे सौ सौ नित नवीन सोपान तब भी

आया जब ईश्वर न था जीवन में, असहाय अनजान था
फिर आया ईश्वर, परन्तु मन को ना शान्ति, संतोष था

तब छोड़े बन्धन सभी, मन हुआ स्वायत्त, मुक्ति मिली
जीवन के सुरहस्य की नई नई परतें भी खुलने लगीं
नहीं पूरी हुई है यह चिरंतन खोज अब भी
चढ़ेंगे-उतरेंगे नित नवीन सोपान अब भी

{६८} फरवरी, २००४

शान्ति-मंत्र का गान

प्रिय ! चलो आज हम सब मिल करके शान्ति-मंत्र का गान करें
शान्ति के सुस्थिर सागरजल का मधुमय रसपान करें

बहुत दिनों से हृदय हमारा व्यथित रहा, बेचैन रहा
जीवन के झंझावातों में मन का पत्ता उड़ता रहा
शीतलता के सागर में "शाश्वती समा" तक स्नान करें
शान्ति-मंत्र का गान करें

रची सभ्यता है मनुष्य ने कुटिल, जटिल, बर्बर आधी
लड़ता रहा परस्पर हो गुमराह, खोई मन की शान्ति
जीवन की आपाधापी से अब हम अपना त्राण करें
शान्ति-मंत्र का गान करें

शान्ति-मंत्र की मूक ध्वनि से गूंज उठे यह जग सारा
गगनभेदी उसके निनाद से नाच उठे ब्रह्मांड भरा
ब्रह्मांडों के पार पहुँच कर सबको शान्ति दान करें
शान्ति-मंत्र का गान करें

{६६} मार्च, २००४

माँ से दूर

याद है मुझे, अब भी याद है
अकल लीला माँ प्रकृति की,
अब भी याद है ।
माँ की गोद में पला हूँ मैं
फूला-फला हूँ मैं,
गोद में ही समझे हैं मैंने इन्द्रधनुषी रहस्य
जीवन और मृत्यु के ।
भूलूँ कैसे ?
याद है मुझे, सब कुछ याद है

कुदरत में ही जन्मा था जीवन मेरा
कुदरत में ही रमा था जीवन मेरा
कुदरत में ही रँगा था जीवन मेरा ।
आज भी है आँखों के सामने,
मन के कंप्युटर में जैसे डिजिटल चित्रप्रवाह
वे धूलिधूसरित सड़कें गाँवों की,
वे धीरगति से चलतीं बैलगाड़ियाँ,
सरिता के वे शान्त नीर
और उनमें उठतीं लहरों का प्रेमालिंगन !
सुखदुःख के दाता होते हैं सब स्मरण !
याद है मुझे, अब भी याद है

पत्तों की मर्मर ध्वनि से फलकलिल
पेड़ों की स्वप्निल छाया में करतीं रातें,

उन उडुगणों को गिनतीं आँखें,
जिनकी गणना कभी नहीं होती थी पूरी !
ग्राम-पितामह स्वरूप वह बूढ़ा बरगद,
और पास में बहती निर्झरिणी की झंकार को
अपने मधुगानों में समेटते पक्षिवृंद !
वन-उपवन की सघन छाँव में दौड़ती हुईं
पशुओं और मानवों की
समान्तर पगडंडियाँ
गाँव की सीमा पर,
उसी बरगद की जड़ के तकिये पर सिर रख कर,
पालतू पशुओं के साथ
ढलती दोपहरी में आराम करना,
और भी जाने क्या-क्या करना !
भूलूँ कैसे ?
याद है मुझे, सब कुछ याद है

उधम मचाना अपने घर के आँगन में
और छिप जाना अपनी जननी के मैले आँचल में !
बन जाना मिटटी,
मिटटी के कण-कण से मिलकर,
मिला देना सृष्टि-संगीत के स्वर में स्वर !
याद है, मुझे अब भी याद है

फिर अचानक प्रविष्ट हुआ मैं
नई सभ्यता के खोखले माहौल में,
विकास का मुखौटा पहन कर,
जैसे किसी भूल-भूलैया में !
चलता ही गया
चलता ही गया उसकी चकाचौंध में

सदियों तक !
बहुत दूर आ गया हूँ मैं अब अपनी माँ से,
पर भूला नहीं मुझको उसका वह आर्द्र चेहरा
अब तक !
वे स्नेह-सिक्त आँखें,
मुझको जैसे ताक रही हैं,
विथा बिछोह की गा रही हैं !
और इधर नींद में पड़ा मैं,
मिथ्या सपनों में विचंरता मैं,
अपने अहम् का विष-भोजन करता मैं !
चौंक उठता हूँ मैं कभी कभी बैर-अबैर,
जैसे कोई महाकाय डायनासोर,
जिसकी संवेदना जागती है सदियों पर
और तब आता है मन में,
दौड़ के चला जाऊँ अभी उसके पास,
और छुपा लूँ अपना अपराध
उसकी ममतामयी गोद में !

{१००} मई, २००४

झरना-१

झरना सूख गया है ।
पूरा बह नहीं सका कभी वह
धारा दुबली निकली थी, पर
हो गई हैअबशब-सी निश्वल ।
झरना सूख गया है ।

चट्टानों को तोड़ तोड़ कर बना लिया था रास्ता अपना
सदियों के संघर्ष बाद था तोड़ सका बन्धन वह अपना
देख दिव्य दुनिया बाहर की पुलक उठा था, जैसे सपना
प्रचंड ध्वनि कर नाच उठा वह
झरना सूख गया है ।

था उसको, सरिता बन जाऊँ, जनपद दरसन पाऊँ
अपने जीवन-जल से अग-जग को अमरित दे जाऊँ
करके जीवन सार्थक, प्रिय सागर से मैं मिल जाऊँ
झूम झूम छल-छलक उठा वह
झरना सूख गया है ।

किन्तु नहीं पूरी की कुदरत ने उसकी अभिलाषा
आँधी के प्रलयंकर प्रकोप से तोड़ी प्रत्याशा
तोड़ के निकला था जिनको, चट्टानों ने ही फाँसा
सरस्वती हो गया हैअब वह
झरना सूख गया है ।

{१०१} जून, २००४

झरना-२

फिर बहने लगा यह निर्झर !
युग-युग से जो बन्दी बना था
प्रस्तर के पहरों में फँसा था
कारागार न तोड़ सका था,
मुक्त हुआ जल निर्मल ।
फिर बहने लगा यह निर्झर !

भीषण झंझावात चले थे
प्रचंड प्रस्तरपात हुए थे,
शिला-शिला के स्तर के स्तर से
दिशा-द्वार सब बन्द हुए थे ।
पर सकता है रोक कौन, जो
उत्स पड़ा मुक्ति का भीतर ?
विद्रोही की एक आह से
ध्वस्त हुए भौतिक सब बन्धन !
आज़ादी का लिए अमर जल
बहने लगा यह निर्झर ।
फिर बहने लगा यह निर्झर !

पल पल, कल कल, छल छल, करता
नाद-निनाद, चला पहाड़ से
संगीत, नर्तन, संकीर्तन करता
बह निकला तीव्र गति से,
मध्यम धारा धीर धरा पर,

लुप्त सरस्वती जैसे प्रकटित
हो अग-जग में भरती सुधारस !
कभी मंद्र तो कभी मध्य
सप्तक में तान सुनाता नवरस
बहने लगा यह निर्झर ।
फिर बहने लगा यह निर्झर !

{१०२} जून, २००४

नींद

यह नींद मुझे सोने नहीं देती,
हठी नींद !
यह नींद मुझे सोने नहीं देती !
पलकों पर आ कभी बैठती
कभी प्रवेशती आँखों में, पर
भीत मृगी-सी भाग ही जाती !
नींद मुझे सोने नहीं देती ।

पलकें अपना धर्म पालतीं
रह-रह द्वार बन्द कर देतीं
पर यह बैरन नींद भला क्यों
पलकों पर से शीघ्र उतर कर
नयन-व्याग करके ही रहतीं !
नींद मुझे सोने नहीं देती ।

सदियों से है रही जागती
सोती है नहीं सोने देती
थक कर मन ने आज्ञा दी
सोने की, उसको भी ठुकराती !
अपने मन की नहीं बताती !
नींद मुझे सोने नहीं देती ।

झगड़ा क्या, किससे, न बताती
विरोध क्या, किससे, न जताती
कहा जागरण ने तब आख़िर,
सपनों का परिहार चाहती !
नयनों में इसे लिए न आती !
नींद मुझे सोने नहीं देती,
हठी नींद !
यह नींद मुझे सोने नहीं देती ।

{१०३} अगस्त, २००४

संकल्प-सिद्धि

संकल्प-सिद्धि-क्षण आ पहुँचा
संकल्प का पूर्ण विधान होगा
सिद्धि रहित रिद्धि अपूर्ण होती
सिद्धि रहित रिद्धि विशुष्क होती

जिजिविका की हद एक होती
सीमा कदापि नहीं लांघी जाती
समय समय में यही फ़र्क होता
आया कभी जीव, चला भी जाता

समय हुआ, जीवन-रंग रेले
समय हुआ, जीवन-अंत झेलें
समय-समय जीवन-जाल फेंकें
समय समय जाल वही समेटें

न कोई मारण, न व्याधि होगी
यह जीव की आप उड़ान होगी
हृदय स्वयं तत्क्षण ही रूकेगा
संकल्प-सिद्धि-क्षण आ पहुँचा

{१०४} अक्तूबर, २००४

त्सुनामी

महासिन्धु के हृदय के हिक्लोल-कंपन से उठती हुईं
ये लहरें !
उठ उठ कर पृथ्वी पर प्रलय-ताण्डव करती हुईं
ये त्सुनामि की मौजें !
फट क्यों नहीं जाता हृदय, देख कर
प्रकृति की पैशाचिक लीली ?
जल क्यों नहीं जाता हृदय, सुन कर
जन-हत्यों की करूण चित्कार ?
कैसी है यह प्रस्तर-शिला-सी कवि-हृदय-लीला ?
टूट गई हैं करूणा की सैंकड़ों कगारें,
किन्तु मूढ़ मन किञ्चित भी न हिला ।

उदासीन है क्या कवि का मन?
उदासीन होने की दिशा में जब बढ़ता जाता है मन,
(उदासीन तो वह नहीं हो सकता संपूर्ण)
संवेदनशील वह तब भी कम नहीं हो सकता ।
सुखदुःख की त्सुनामियाँ उठती तो हैं
भावनाओं के ज्वार आते तो हैं
ऊर्मियों के स्पन्दन उठते तो हैं
शमन कर सकता है उन सबका वह
समा सकता है सब शान्तिसागर में वह
ठहरा अन्त में तो कविजीव वह ।

पर हो क्या गया है आज के कवि को ?
ताकता रहता है भावशून्य हो प्रलय को ।

देखता रहता है
अपने बन्धु-बान्धवों के कर्म-कारनामे वह,
खड़ा रहता है
साक्षी बन कर विश्व के प्रांगण में वह !
क्या क्या दुर्घटनाएँ होती हैं मानव-निर्मित,
क्या क्या अनहोनियाँ घटती हैं प्रकृति-प्रणीत !
कैसी स्वार्थ-परक जड़ता, कवि ।
कैसी निर्लिप्त उदासीनता, कवि ।
कितनी निर्मम संवेदन-हीनता, भाई
कितनी क्रूर कापुरूषता, साँई
मानो तुम कवि नहीं, कवि की छाँई ।

क्षुब्ध हो गया कवि यह अप्रत्याशित वाणी सुनकर
सोचा उसने,
फट क्यों न गया उसका पत्थर-हृदय ?
आग क्यों न बन गया उसका हिम-हृदय ?
तोड़ कर करूणा की कगारें
बह क्यों न निकला उसका जड़ हृदय ?

और तब हो गये बन्द कवि के नयन,
हो गया वह ध्यानमग्न गहन ।
खुल गई उसकी अन्तर्दृष्टि,
दिखने लगी स्वयं सारी समष्टि,
बीत गईं ऐसे ही कुछ घड़ियाँ तुरीयावस्था में,
परिणत कर दिया जिसने कवि को ऋषि में,
ऋषि से आर्षदृष्टा में !
देख रहा है जैसे कोई चित्रपट बन्द नयनों से,
चल रहा है जो पृथ्वी-पट पर, दिव्य नयनों से

आ रहा है जैसे बूढ़ा शयतान साक्षात् फिर से
भयंकर भूकंप का रूप ले करके,
चीर देता है विवश समंदर का पेट भीतर से
प्रलयंकर गर्जन करके,
जगाता है सोईं त्सुनामी राक्षसियों को लताप्रहार से
घोर अट्टहास करके,
और अस्थिर हो जाता है हमारा कवि
यह सब देखके,
देखता रहता है फिर भी धीर गंभीरता से
मन को दृढ़ करके !

ल्होंगो गाँव, और गाँव का समुद्र-तट,
तट पर है जवान, आगन्तव्य से अनजान ।
निमंत्रण दिया आती हुई लहर को उसने,
खेल में, प्रेममग्न होते हुए ।
और निगल लिया अपने प्रथम ग्रास को काली दुष्टा ने,
विजय-हुंकार करते हुए !

अँगड़ाइयाँ ले रहा था बान्दा आचेह,
गूँजती प्रभाती में मची थी खलबली,
फैला दिया जाल अपना डाइन ने उस पर,
जैसे हो कोई वह मछली
और बनाकर नगर को अस्थिपंजर,
चल निकली अंदामान की ओर ।
द्वीप के द्वीप डूबे, परिवार के परिवार !

फिर दौड़ कर दूसरे ही क्षण
ध्वस्त कर दिया नागपट्टिनम् का पूरा ग्राम-परिवार,
किया दक्षिणेशिया पर क्रूर वार !

भागने लगा अफ्रीका ।
पर बच न सका वह भी इस बार !

चिल्ला रहे हैं किसीके बच्चे इधर
अपने डूबे माँ बाप की खोज में,
भटक रहे हैं किसी के माँ बाप
अपने खोये बच्चों की खोज में ।
पागल-सा बैठा है कोई परदेसी पेड़ पकड़ कर,
रो रहा है कोई मछुआ अपना सिर पटक कर ।
क्या बचा है त्रिंकोमाली में ?
किसको छोड़ा है हंबन्टोला में ?
क्या बचा है भग्नावशेष में ?
किसको छोड़ा है अस्पताल-खंडहरों में ?
बचा क्या है संमदर के बाहर ?
बचा क्या है समंदर के भीतर ?
बचा है तो केवल एक उबलता आक्रोश,
बची है तो केवल एक करूण चीख,
बची है तो केवल एक असहाय दृष्टि,
बची है तो केवल एक निराधार सृष्टि ।
बसाओ संसार नया अब कंकालों का,
बसाओ नगर नया अब भग्नावशेषों का ।
चिल्ला रहे हैं स्वयं छह हज़ार मील
'त्राहिमाम' कहते हुए,
चीख रहे हैं मृतामृत और आहत,
'पाहि माम्' पुकारते हुए ।
खुल गईं आँखें कवि की ध्यान-निद्रा से,
रो उठा उसका उत्स अपनी खोखली मानवता पर ।

तभी, अचानक ही,

लौटीं समुद्री त्सुनामियाँ अपने घर
अपनी धृष्ट ध्वंसलीला समाप्त कर ।
हाहाकारों-चीत्कारों से नभ गया पूरा भर,
गूँज उठा हृदय-द्रवी आर्त्तनादों से संसार,
चुप हो गया सिन्धु लज्जापराध से
गूँगे शिशुओं का मुखर नाद सुन कर !
और उधर,
दूर सुदूर क्षितिज पर,
दिखते हैं दौड़ कर आते हुए,
नीच अट्टहास करते हुए,
रोग-बीमारियों के क्रूर लश्कर
महाभोज भोगने के अत्यानंद में चकचूर !

शमा न सका अपनी हृदयाग्नि को अपने भीतर अब
कवि,
समा न सका दुःख की त्सुनामियों को अपने भीतर अब
कवि,
बुझा न सका अपनी शोकाग्नि को धैर्य-सागर में अब
कवि !
फट गया उसका हृदय अब
जीवन की यह मृत्यु-लीला देखकर !
ललक उठी संवेदना उसकी अब
महा-प्रलय-काव्य-रूप धरकर ।
बह निकलीं शत शत त्सुनामियाँ हृदय से
शान्त सुलेपम बनकर ।
समेट लिये अंक में सारे क्रन्दन विश्व के
उसकी वाणी ने
सरस्वती बन कर ।

{१०५} दिसम्बर, २००४

त्सुनामी (tsunami)ः समुद्री भूकंप से उठती हुई ज्वार की राक्षसी लहरें ।
ल्होंगो (lhokngo)ः इन्डोनेशिया का एक गाँव ।
बान्दा आचेह (banda aceh)ः इन्डोनेशिया का एक गाँव ।
नागपट्टिनम् : तमिलनाडू (भारत) का एक गाँव ।
त्रिंकोमाली : श्रीलंका का एक गाँव ।
हंबन्टोला : श्रीलंका का एक गाँव ।

काव्य-विसर्जन

जब मैं जाऊँगा,
महाविसर्जन करके जाऊँगा अपनी कविताओं का
तमाम ।
प्रेम से करके टूकड़े टूकड़े,
जैसे करता है कोई पवित्र प्रेमी
अपने स्नेह-सिक्त दिल के ।

बहा दूँगा जलराशि में महासागर की
कुछ को,
पहुँच जाएँगी पाताल-तल में ये ।
उड़ा दूँगा फूँक-मात्र से विस्तीर्ण आकाश में
कुछ को,
गूँज उठेंगी पहुँचकर इंद्रपुरी में ये ।
अग्निदाह दे दूँगा विराट विश्व के प्रांगण में
कुछ को,
बुझ जाएँगी अवकाश के पार वाले विश्वों में ये !

ये कन्यकाएँ क्वाँरी मेरी,
शीत-ऊष्ण हिमखंड जैसी ये,
मंद मंद मलयज ये मेरी,
पीत-रंगीन पत्तों की-सी ये,
नवप्रभात की ओसें ये मेरी,
बसन्त की मुस्कानों जैसी ये ।
मृदु-मधुर, उग्र-कठोर

लाजवंतियाँ ।
स्वप्नशील, सुसंस्कृत
सरस्वतियाँ !
प्रणय-प्योधि की ज्वाला में जलतीं,
अपने जगत्पति को समर्पित,
अपने जगत्पति से तिरस्कृत,
अपने जगत्पति से अस्वीकृत
ये परम पुनीताएँ,
ये प्राणप्यारी सुकन्याएँ ।

हाँ, बस ।
यही है इनका दोष,
एक जघन्य अपराध
एक मासूम गुनाह ।
जन्म लिया है मेरी कोख से जाने-अनजाने में
किया गर्भ में गुप्त बसेरा जाने-अनजाने में
मैं हूँ इनका पिता, और मैं ही हूँ माता ।
मैं ही अरे ! अर्द्धनारीश्वर !
मैं ही भाग्य-विधाता ।
जीना असंभव मुझ बिन इनका,
मैं ही उनका त्राता ।
उद्‌गाता ।

जब मैं जाऊँगा,
महाविसर्जन करके जाऊँगा अपनी कविताओं का
तमाम !

{१०६} सितंबर, २००५

लोककला

लोककला का मंचन करके खून किया जाता है उसका
और ढोल पीटा जाता कि, किया जा रहा रक्षण उसका

मुक्त गगन बन, मुक्त पवन औ‘ मुक्त पंछियों की चहचह
मुक्त हँसी औ’ अभिव्यक्ति का उत्स रहा जनपद उसका

रंगमंच के नीति-नियम में कलाकार-मन उलझा रहता
बड़े बाबुओं का संचालन, श्वास रूँधता है उन सबका

लोगों का क्या ? सदा चाहिए उनको नया नया मन-रंजन
‘प्रिमिटीव’ लोगों को प्रोत्साहन देना धर्म खरा है उनका ।

लेकगीत औ’ लोकनृत्य मंचों पर कतई नहीं पनपते
हवा नागरी से धीरे धीरे दम घुटता जाता उनका

रक्षा करनी है यदि उनकी संस्कृति की, तो चलें उधर हम
मुरझा जाते पेड़ विवश, जब काट दिया जाता मूल उनका

हरेक का माहौल ख़ास, रक्षा उसकी है धर्म सभी का
दंभ छोड़कर, समतल धरती पर संमिलन, कर्म सभी का

{१०७} दिसंबर, २००५

कुसमय की कविता

कमबख़्त कविता को भी अभी आना था !
द्वार सभी जब बन्द हो गये,
आ खड़ी आलिंगन को !

समय नहीं यह पद्य का
समय नहीं रोमान्स का
समय है शुद्ध गद्य का ।
द्वार अरे ! अब बन्द हो गये ।
चले सभी हम आस्वाद लूटने गद्य-भोज का !
इसी समय आना था बदनसीब को
प्रणय-लीला रचाने ।
कमबख़्त कविता को भी अभी आना था !

बिना इत्तिला आ धमकना !
कुछ भी नहीं विवेक-विनय और सोच-विचार ।
इस लिए कि मैं कवि हूँ,
आ सकती है जब चाहे तब
कोई कविता मेरे द्वार ?
बुरा मत मानना, कविते प्रिये ।
तुम सुन्दर भी हो, सुशील भी,
सुकोमल और स्वप्नशील भी,
पर समय समय की बात है,
प्रिये कविते ।

नहीं कर सकता गद्य का भी निरादर मैं ।
असंमजस में हूँ बराबर मैं ।

कमबख़्त कविता को भी अभी आना था ।

{१०८} दिसंबर, २००५

जीवन-लीला

जो छूट चुका सो छूट चुका, जो बचा-खुचा वह अपना
जो निकल गया सो निकल गया, मुठठी में रहा वह अपना

जनम जनम का क्रन्दन करके प्राणवायु थी पाई
वह मूल गया सो भूल गया, बचपन जो बचा वह अपना

शैशव के कमनीय कुसुम, नन्हें खगबाल किलकते
वह खेल गया सो मेल गया, यौवन जो बचा वह अपना

जीवन की महकी फुलवारी, परिवार पूरा सुरभित था
जो उजड़ चुका सो उजड़ चुका, वार्द्धक्य मिला वह अपना

यौवन ने जरा का रूप लिया, संध्या का साज निराला
जो बीत चुका सो बीत चुका, ढलता सूरज वह अपना

दर्पण में सूरत देख फूले निज, सच ने भ्रम को तोड़ा
जो टूट गया सो टूट गया, टुकड़ा जो बचा वह अपना

लुब्धक ने पूंजी बचाई थी, जग-प्रपंच ने आ लूटा
जो लूट चुका सो लुट चुका, जो शेष बचा वह अपना

बूढ़ेपन की मधुशाला पर जीवन-साक़ी का ताला
जो बन्द हुआ सो बन्द हुआ, अतिथि आया वह अपना

{१०६} जनवरी, २००६

बूढ़े को बनाया

(एक समाचार : इस बार का विन्टर बहुत ही माइल्ड रहा)

बूढ़े को बनाया,
बूढ़े को ख़ूब बनाया !

बड़ा सख़्त है यह बूढ़ा
कड़ा और अति क्रूर,
जीना कर देता है दूभर !
असत्य होता है उसका प्रकोप,
खुला रहता है सदा उसका तीसरा नेत्र,
जला देता है ठंडी आग में !
नटराज है यह !
किन्तु कितना भिन्न है नटराज से यह !
पर अच्छा बनाया इसको इस बार !
बूढ़े को ख़ूब बनाया !

है तो यह बूढ़ा खंख,
पर कम नहीं किंचित् भी इसका जोश, क्रोध ।
कैसा बवंडर उठता है इसके श्वासोच्छ्वास का,
क्या प्रचंड ताण्डव है इसका !
पेड़ भी गिरा देते हैं अपने पत्ते
मारे डर के,
डालियाँ भी ढँक लेती हैं अपने अंग
स्नॉ-चद्दर से,
और काँपती यह धरती भी ओढ़ लेती है सफेद चादर
अकल्प भय से !

हाहाकार मचाता है यह
भूगोल दबाता है यह
अमोघ वार करता है यह !
पर भला बनाया इस बार इसको !
बूढ़े को ख़ूब बनाया !

बात यह हुई हमारी,
युक्ति यह हुई हमारी,
समझा-बुझाकर भेज दिया दूसरे देश में
स्नॉ को हमने ।
अठखेलियाँ करके प्यारी पवन को भेज दिया
सागर पार क्षितिज में हमने
ऊधम तो बहुत मचाया बूढ़े ने,
(बेचारा)
कड़ाके की ठंड को भी आह्वान किया उसने,
पर नहीं बिगाड़ सका वह कुछ भी हमारा !
रह गया पाँव पटक कर बेचारा !
बूढ़े को खूब बनाया !

{११०} फरवरी-मार्च, २००६

बसन्त में वर्षा

सखि हे ! बसन्त है या वर्षा आई ?
चार ऋतुएँ अमेरिका में, पंचम कहाँ से आई ?
बसन्त है या वर्षा आई ?

आती है हर साल प्रकृति पुष्प-वस्त्र धारण कर
सुरभिमय पुष्पों से, हरियाली से साज सजा कर
किसने भेजा धानी सारी आर्द्र उसे पहना कर ?
पंचम कहां से आई ?

बसन्त की रंगीन लीला का अब भी कोई अन्त नहीं
कोंपल फूटी, कलियाँ बिकसीं, रंगसृष्टि का अन्त नहीं
किसने रचाया खेल परन्तु बारिश का भी अन्त नहीं ।
पंचम कहाँ से आई ?

मृगशावक अब भी आते हैं, घर में, रॉबीन गाते हैं
स्कन्क अभी दुर्गन्ध छिड़कते, फूल खिले हँसते हैं
किसने जादू-खेल रचा है ? बसन्त-वर्षा मिलते हैं !
पंचम कहाँ से आई ?

पत्तों पर हैं बूँदें गिरतीं, गीत नये बनते हैं
मेघगर्जना के तालों में पंछी गान करते हैं
किसकी लीला ? देखो ! सुंदर सुंदर दो मिलते हैं ।
पंचम कहाँ से आई ?

निकली थी अभिसार रचा के भारत से यह नारी
अब समझा ! है परम मिलन में परम अर्द्ध-नर-नारी !
किस अनंग की लीला से यह दिव्य मिलन की पारी ?
पंचम कहाँ से आई ?

{१११} २००६

घटश्राद्ध

मैने निज घटश्राद्ध कर लिया,
निज आत्मा को मुक्त कर दिया !

किसी अंत्यज से भाव हो गया,
और भाव से प्रेम हो गया ।
ब्राह्मण हो मैं भ्रष्ट हो गया,
समाज से परिभ्रष्ट हो गया !
पाप घड़े में आज बहा दिया !
मैंने निज घटश्राद्ध कर लिया ।

शास्त्रों की बातें नहीं जानीं,
स्मृतियों की आज्ञा नहीं मानी,
कानून की रक्षा नहीं चाही,
न्याय-दया की भीख न माँगी ।
शाप नदी में शीघ्र डुबो दिया !
मैंने निज घटश्राद्ध कर लिया ।

बहिष्कार कर दिया हमारा
समाज ने, परिवार-जनों ने,
पर नवयुग, नवसमाज की
निर्मिति में केन्द्रित ध्यान हमारा ।
घर में भेदाभेद भर दिया !
मैंने निज घटश्राद्ध कर लिया ।

{११२} अगस्त, २००६

कवि जयदेव के प्रति

नदी जब बाँध बन जाती है महाकाय,
बन्दी बन जाता है पूरा बहाव उसका,
मैला हो जाता है पूरा आँचल उसका ।
कलुष आ जाता है उसके मुखर में,
उथल-पुथल मच जाती है तब प्रकृति में,
नष्ट-भ्रष्ट हो जाती है समस्त जीव-सृष्टि
जड़-चेतन ।
उन्मूलित हो जाती है
संस्कृति, सभ्यता और शिल्प-स्थापत्य ।
भरने लग जाती है कूड़े-कचरे से
उसकी हृदय-सृष्टि ।
नदी जब बाँध बन जाती है महाकाय !

इच्छा जब ग्रन्थि बन जाती है गैंग्रिनी
विचार जब ग्रन्थि बन जाता है गैंग्रिनी,
मैला हो जाता है तब पूरा मस्तिष्क मनुज का ।
कलुस आ जाता है तब उसके वाणी-विधान में,
उथल-पुथल मच जाती है उसकी प्रकृति में
नष्ट-भ्रष्ट हो जाती है समस्त जीव-सृष्टि
जड़-चेतन ।
उन्मूलित हो जाते हैं तब
संस्कृति, सभ्यता और जीवन-स्थापत्य ।
भरने लग जाती है कूड़े-कचरे से
उसकी हृदय-सृष्टि ।

इच्छा जब ग्रन्थि बन जाती है गैंग्रिनी,
विचार जब ग्रन्थि बन जाता है गैंग्रिनी ।
आह्वान है तुम्हारा,
हे प्रिय कवि जयदेव !
हो रहा है अशुद्धि-पयोधि-जल निमज्जित
जीवन-वेद हमारा ।
तुम आओ ।
और हो जाओ प्रस्तुत
एकादशावतार की संरचना को !
आह्वान है तुम्हारा ।

नदी अब बाँध बन गई है महाकाय !
इच्छा अब ग्रन्थि बन गई है गैंग्रिनी !

{११३} अगस्त, २००६

मेजर उपेन्द्र सिंह और लाल बहादुर शास्त्री
(१९६५ के भारत-पाक युद्ध में घायल मेजर की मुलाकात को स्व० शास्त्री जी)

''वीर कभी आँसू नहीं बहाते,
वीरों को आँसु नहीं शोभा देते,
मेजर साहब ।
वीर कभी नहीं रोते,
सह लेते हैं हँसते हँसते,
झेल लेते हैं ,
मर मिटते हैं ।
वीर कभी आँसू नहीं बहाते ।
मेजर साहब देखो ।
गर्व करती है,
इठलाती है,
भारतमाता तुम पर ।
जवान बेटा निकला वीर उसका,
कर दिया जिसने ऊँचा सिर उसका ।
मेजर साहब ।''
....

''ये आँसू नहीं हैं,
वाणी हैं ये मेरे उर की,
शास्त्री साहब ।
मेरे आँसू गूँगे नहीं हैं,
मेरे आँसू मुखर-मौन की बोली हैं।
ये आँसू हैं स्वर्णाक्षर में अंकित
मेरी लाचारी की करूण कहानी,
प्रधान-मंत्री जी ।

नहीं हैं ये मेरे ज़ख़्मों की शिकायत,
नहीं हैं ये भी मेरे छालों की शिकायत ।
देश का सबसे बड़ा अगुआ
चलकर खुद यहाँ आया
हो कर दुःख में समदुःखी ।
और मैं एक सैनिक मामूली
सलाम भी नहीं करता उठकर !
कितना धृष्ट और अविवेकी,
प्रधान-मंत्री साहब ।
यही शिकायत कर रहे ये आँसू,
सज़ा का तकाज़ा कर रहे ये आँसू ।"
....

गद्गद् हो गये शास्त्री जी तब,
लाल बहादर लाल हुए तब !
दर्शन करने उस सैनिक के
दौड़ पड़े दो आँसू !
नयन-कोर में अटके !
....

मिल गये तब दोनों के हिये गलकर,
अश्रुरूप से मौपितक-रूप धारण कर ।

{११४} सितम्बर, २००६

सुख और दुःख

सुख ही सुख है इस जीवन में
दुःख का एक रजकण भी नहीं है
आँसू हैं, पर सिक्त हैं सुख में
दुःख का सूखा कण भी नहीं है

दुःख दिखता है, जैसे सँपोला डँसता रस्सी की लटकन में
पर्दा हटने पर भ्रम का, सुख दिखता सच के नवदरसन में
सुख ही सुख है इस जीवन में

लहरें उठने लगतीं दुःख की, जी घबराता भव-भँवरन में
अनुभूति होती सुख की, पाता निजको जब मोतियन में
सुख ही सुख है इस जीवन में

हमने केवल शूल चुने हैं, फँसे नहीं कतई फूलन में
मुक्ति मंजिल परमा हमारी, बँधे न क्षुल्लक के बन्धन में
सुख ही सुख है इस जीवन में

{११५} नवम्बर, २००६

गिद्ध से भयभीत सुदान के एक बालक की प्रार्थना
(पत्रकार स्व. केविन पोर्टर की पुलित्ज़र प्राइस प्राप्त एक तस्वीर के आधार पर)

हे ईश्वर ! मोहे पार लगा दो
यह बीराना बंजर बिखरा सागर, मोहे पार उतारो ।
हे ईश्वर ! मोहे पार लगा दो

लोग कहे हैं, कोई 'युनो' है, सबकी रक्षा करता
मरना टलता, जीना मिलता, उस तक बस पहुँचा दो
हे ईश्वर ! मोहे पार लगा दो

ध्वज तो है कुछ ही दूरी पर कैसे पहुँचूँगा उस तक ?
हे दुःखत्राता ! हाथ बढ़ा दो, मृत जीवन को जिला दो
हे ईश्वर ! मोहे पार लगा दो

हाथ न पाँव रहे, जो रहा है, कुछ पतले धागे हैं !
पेट पीठ से मिलने धँसा है, संजीवनी पिला दो
हे ईश्वर ! मोहे पार लगा दो

त्रस्त नयन, हिय-भीत शिशु मैं, शून्य मति, अति व्याकुल
प्राणपति ! ओ तारणहारा ! नर-कंकाल बचा लो
हे ईश्वर ! मोहे पार लगा दो

काल-कराल रहा मँडराता गिद्ध चहुँ दिशि मेरी
मरण-भीत तव मीत । शीघ्र यमग्रास से मोहिं उबारो
हे ईश्वर ! मोहे पार लगा दो

{११६} नवंबर, २००६

ये भी कुछ मनुष्य

शब्दों के पत्थर
जीभ के गोफन से फेंकने वाले
कम नहीं होते !
अपने से बदतर
दुनिया को समझने वाले
कम नहीं होते !

आदर्शों का नाम होता है,
काम नहीं ।
हमदर्दी का जाम होता है,
दाम नहीं !
मूक, शान्त व्यापार को
शब्द बाण से बेधने वाले
कम नहीं होते !

जीवन के संवादी स्वर में विवादी भरना
अच्छा लगता हैं !
बसे संसार को वीराने में पलटना
प्यारा लगता है !
कबूतर की तरह कंठ फुला के चलना
न्यारा लगता हैं।

मधुमय मुखौटा पहन
विष उगलने वाले

कम नहीं होते !
शब्दों के पत्थर
जीभ के गोफन से फेंकने वाले
कम नहीं होते !

{११७} नवंबर, २००६

स्वरों का मिलन

आज हुआ कुछ ऐसा, जो अक्सर होता आया है,
फिर भी नया, निराला, नंदन, आज हुआ कुछ ऐसा !

सुत था, गोद हमारी सूनी बिन सुता, सुन साँई ।
चुपके से भर गई अचानक, आज हुआ कुछ ऐसा

आँचल फैलाकर बैठे थे नयन मूंदकर हम तो,
खोले तो मोती को पाया, आज हुआ कुछ ऐसा ।

मीतहीन मंज़िल जाने कब कहाँ कहाँ ले जाती ।
बीच पंथ में सुमित मिला इक, आज हुआ कुछ ऐसा ।

एक अकेले स्वर में कोई मिला गया स्वर अपना,
मिले सभी के स्वर में स्वर हैं, आज हुआ कुछ ऐसा ।

{११८} २००५-२००६

धरती का गान

(अमेरिकन इन्डियन की नवाहो जाति का गीत : अंग्रेजी का अनुवाद)

१

यह धरती सुन्दर है
यह धरती सुन्दर है
यह धरती सुन्दर है

पूरब के नीचे, यह पृथवी, पूर्वाभिमुख यह पृथिवी
उसके शीश का शीर्ष सुन्दर है
उसके पाँवों के तलवे सुन्दर हैं
उसके चरण सुन्दर
उसके पाँव सुन्दर
उसकी देह सुन्दर
उसका सीना, उसके स्तन, उसके शीर्षपिच्छ
सब कुछ सुन्दर सुन्दर

पश्चिम के नीचे, यह व्योम, पश्चिमाभिमुख उसका मुख
उसके शीश का शीर्ष सुन्दर है
उसके पाँवों के तलवे सुन्दर हैं
उसके चरण सुन्दर
उसके पाँव सुन्दर
उसकी देह सुन्दर
उसका सीना, उसके स्तन, उसके शीर्षपिच्छ
सब कुछ सुन्दर सुन्दर

पूरब के नीचे, यह उषस्, पूर्वाभिमुख उसका मुख
उसके शीश का शीर्ष सुन्दर है
उसके पाँवों के तलवे सुन्दर हैं
उसके चरण सुन्दर
उसके पाँव सुन्दर
उसकी देह सुन्दर
उसका सीना, उसके स्तन, उसके पिच्छ शीर्ष
सब कुछ सुन्दर सुन्दर

२

पश्चिम के नीचे, सूर्यास्त की रक्तिम ज्वाला, पश्चिमाभिमुख उसका मुख
सुन्दर है
पूरब के नीचे, श्वेत श्वेत मक्का, पूर्वाभिमुख उसका मुख
सुन्दर है
दक्षिण के नीचे, नीले रंग की मक्का, दक्षिणाभिमुख उसका मुख
सुन्दर है
पश्चिम के नीचे, पीले रंग की मक्का, पश्चिमाभिमुख उसका मुख
सुन्दर है
उत्तर के नीचे, चित्ररंगी मक्का, उत्तराभिमुख उसका मुख
सुन्दर है
पूरब के नीचे, पवित्र आत्मा सहानाहरे,१ पूर्वाभिमुख उसका मुख
सुन्दर है
पश्चिम के नीचे, पवित्र आत्मा बेकेहोज़ोन,२ पश्चिमाभिमुख उसका मुख
सुन्दर है
पूरब के नीचे, मक्का की उड़ती रन, पूर्वाभिमुख उसका मुख
सुन्दर है

पश्चिम के नीचे, मक्का का बीटल कीड़ा, पश्चिमाभिमुख उसका मुख
सुन्दर है

यह धरती सुन्दर है
यह धरती सुन्दर है
यह धरती सुन्दर है

{११६} नवम्बर, २००६

नोट :

१ पृथ्वी की पवित्र आत्मा (Spirit)
२ व्योम की पवित्र आत्मा (Spirit)

विशेष नोट भी देखिए ।

शून्य से शुरूआत

शून्य से शुरूआत कर तू, शून्य से शुरूआत, बन्दे !
शून्य से शुरूआत कर
एक एक ही रटत जात, हो अंक-गणना मुक्त, बन्दे !
शून्य से शुरूआत कर

काल-गणना के भँवर में है फँसा यह जीव तेरा
काल-मुक्ति-तट ही तेरा लक्ष्य हो, हे बन्दी बन्दे ।
शून्य से शुरूआत कर

अंक का अस्तित्व ही क्या ? शून्य से ही अंक हैं
अपने ही बल पर नहीं वह एक डग जा पाये, बन्दे ।
शून्य से शुरूआत कर

एक को यदि पा गया तो, दो दूजा ले जायेगा
छोड़ यह स्पर्धा-प्रतिस्पर्धा का पागलपन तू, बन्दे ।
शून्य से शुरूआत कर

अंक-लोभी मृग की हत्या अंक ही करता सदा
शून्य बस है, ईश भी नहीं, सत्य गुन ले गुह्य, बन्दे ।
शून्य से शुरूआत कर

शून्य आदि काल तेरा, शून्य-व्योम-विहार कर
शून्य मिलता शून्य से, कर शून्य में निज विलय, बन्दे ।
शून्य से शुरूआत कर

{१२०} मार्च, २००७

जीवनसाथी के प्रति

रंगों का संसार समेट कर उतर आई हो, रे ! तुम यहाँ ।
तुममें जितने रंगकोष हैं, मेघधनु में उतने कहाँ ?
रंगों की अरूणोदय-बेला में रंजित मैं हो जाता हूँ
लक्षरंगिनी ! रंगों के गोधूलि-काल में रँग जाता हूँ

भावों का मधुसागर लेकर लहर लहर तुम आई यहाँ ।
तुममें जितने अमृतकोष हैं, सारे समंदर में वे कहाँ ?
भावों के मदमस्त समय में अपनापन भूल जाता हूँ
हे रसराज्ञि ! रस-चषकों में अमीरस के घूँट भरता हूँ

मुक्ति के शुचि मौक्तिकों को गूथ गूथ तुम लाई यहाँ ।
तुममें जितने रत्नकोष हैं, अमरावती में वे सब कहाँ ?
मुक्ति की साधना परम में उदासीन हो जाता हूँ
एक प्राण ! जीवन-मुक्ति के साधन में लग जाता हूँ

{१२१} फरवरी, २००७

यादों के बन्धन

यादों के बन्धन तू तोड़
सलाख स्मृतियों की तू तोड़
यात्री तू मुक्ति-पथ का, मन उसी दिशा में मोड़
यादों के बन्धन तू तोड़

मधुमय सुरभि की निधि को लेकर आतीं ये यादें
अक्षय कोस आर्द्र गानों का ले आतीं ये यादें
सुख-दुःख के तानेबाने में मन को बुनतीं यादें
सुख-दुःख के तू हर्षशोक के तानेबाने तोड़
यादों के बन्धन तू तोड़

यादें कभी नहीं घटती हैं, मनुष्य घटता है !
स्मृतियाँ कभी नहीं मिटती हैं, मनुष्य मिटता है
कंधों पर यादों की गठरी लिये मनुज फिरता है
यादों के काफ़िले निकलते, अपने को मत जोड़ !
यादों के बन्धन तू तोड़

सुप्राप्य नहीं है, सुसाध्य नहीं है, सुगम नहीं, न सरल
जीवन-मुक्ति का पथ, राही । सत्य सरल यह अटल !
जीवन की माया में रम, पर हो अलिप्त, अविचल !
मुक्त-मना हो कर तू जीवन-मृत्यु के पट खोल ।
यादों के बन्धन तू तोड़

{१२२} मई, २००७

शुभ दिन

आज का यह शुभ दिन,
शुभ दिन आया है ।
ऐसा लगता है,
लीन हो जाऊँ मैं,
और हो जाऊँ मैं
तन्मय, तद्‌गुण, तद्रुप,
इस शारदीया प्रकृति के रंगो के रंग में !
सो जाऊँ उसके परम पुनीत अंक में !
शुभ दिन आया है ।

आज का यह शुभ दिन ।
विश्व के प्रांगण में मंगल लाया है ।
मन में ऐसा आता है,
दौड़ पड़ूँ,
मिल लूँ,
और हो जाऊँ एक प्रकृति के दिव्य गणों के साथ !
मीठी सौंध से सनी धरती की यह मिट्टी,
मिट्टी के निवासी ये जीव !
पेड़ों पर के पक्के
और पेड़ों से धरती पर पड़े
और जग से आँख मिचौनी खेलते
ये पत्ते ।
रंग बदल कर चौकड़ी भरते ये हिरन,
डर कर छिपने को कूदते ये सस्से,
और उनको पकड़ने की ताक में बैठीं बिल्लियाँ ।
खाने की खोज में गार्बेज खोलते रेकून और रीछ ।

आत्म-रक्षा में अति-गन्धित प्रवाही छिड़कते स्कन्क ।
रातदिन अपने भाण्डागार में भोजन भरतीं छिपकलियाँ !
दूर्वा की हरी चद्दर पर रेंगते थे कमनसीब कीड़े,
और उनका महाभोज जीमते ये उडूगण !
प्रकृति के ये दिव्य गण !
आज उनमें है मेरा निमंत्रण !
शुभ दिन आया है ।

आज का यह शुभ दिन ।
महामहोत्सव का निमंत्रक यह दिन ।
ऐसी धुन जगती है मन में मेरे कि,
दौड़ कर पहुँच जाऊँ वहाँ उनके पास,
और लेकर उनका हाथ में हाथ,
गाऊँ और नाचूँ उनके साथ ।
मिला दूँ स्वर से स्वर
ताल से ताल
लय से लय
हृदय से हृदय
शुभ दिन आया है ।

आज का यह शुभ दिन !
आत्मैक्य का यह पवित्र छिन !
सृष्टि के इस महत्पर्व पर
हो जाये मनुष्य और प्रकृति
एक और अभिन्न ।
और सब दिन हो जायें शुभ दिन !
शुभ दिन आया है ।
आज का यह शुभ दिन !

{१२३} नवम्बर, २००७

मेधा
(अनुवाद)

हे मेधा ! सर्वोत्तम मेधा ! प्रथमा मेधा !
विस्तृत होती तुम आओ
मेधा, हे भगवति मेधा ! तुम आओ
सदा वृद्धि करती, बढ़ती, तुम आओ
मेधा ! देवि सुमेधा हे ! तुम आओ
गोधन लेकर
अश्वों के धन समेत तुम आ जाओ
हे यज्ञरूपिणि ! ब्रह्मरूपिणि ! आ जाओ
सूर्य-रश्मियों के सह विस्तृत होती तुम आओ
हे मेधा ! तुम आओ

मेधा, जो है ब्रह्मज्ञान से युक्त
मेधा, जो है ब्रह्मज्ञानियों से सेवित
मेधा, जो है ऋषिगण से संस्तुतित
मेधा, जो है ब्रह्मचारी-पुष्टित
मेधा, जो है देवगणों से रक्षित ।
पुकारता हूँ
करता हूँ आह्वान उसी मेधा का मैं नित
हे मेधा ! तुम आओ

जिस भद्रा मेधा को ऋभुगण ने जाना-माना है
जिस भद्रा मेधा को असुरगण ने जाना-माना है

जिस भद्रा मेधा को ऋषिगण ने जाना-माना है
धारण करूँ मैं उस मेधा को अपने अंदर
मैं मेधी हो जाऊँ
मेधावान् बनूँ मैं
चहुँ ओर से आ जाओ मुझमें, हे भद्रे !
हे मेधा ! तुम आओ

हे अग्नि !
जिस मेधा को मेधावी ऋषि जानते हैं
जिसको पाकर ऋकूदर्शन पा जाते हैं
सत्य समस्त सूक्तों में वे दरसाते हैं,
उसी मेधा से युक्त करो मुझको,
मैं भी मेधावी बनूँ
हे मेधा ! मैं भी तुमको पाऊँ, तुम आओ
हे मेधा ! तुम आओ

प्रतिदिन प्रातः काल मेधा की स्तुति हम करते हैं
प्रतिदिन मध्यन्दिन मेधा की भक्ति हम करते हैं
प्रतिदिन सायंकाल मेधा की उपासना करते हैं
प्रतिदिन उस कल्याणी को अपने भीतर भरते हैं
सूर्य-रश्मियों से, अपनी वाणी से धारण करते हैं
हे मेधा ! तुम आओ ।

आज अरे ! द्यौलोक ने मुझको मेधा प्रदान की है
देखो ! मुझको पृथ्वीलोक ने मेधा प्रदान की है
विस्तृत अन्तरिक्ष ने भी मुझको यह प्रदान की है
अग्नि, सूर्य, जल ने भी, सबने मेधा प्रदान की है

हे देवि ! अब आ जाओ
हे मेधा ! तुम आओ

(अथर्ववेद काण्ड-६, सूक्त १०८, ऋचा १-५, और काण्ड-१२, सू० १५३, ऋ० ६८)

{१२४} नवम्बर, २००७

(विशेष नोट देखिए)

आकूति
(अनुवाद)

१

आकूति देवी का शुभ स्वागत हो ।
पुरस्तात् वह प्रस्थापित हो ।
वह सुभगा, सौभाग्यशालिनी,
और है वह सौभाग्यदायिनी ।
ऐश्वर्या वह, ऐश्वर्यशालिनी,
और है वह ऐश्वर्यदायिनी ।
सूझ-समझदारी की देवी,
सूझ-बूझ-दायिनी ।
आकूति देवी का शुभ स्वागत हो ।

संज्ञानमय है चित मम
आकूति माता उसकी परम,
दिया है जिसने उसे ज्ञान का मर्म !
इसी लिए करता हूँ मैं आकूति का आह्वान
इप्सित है मुझे स्वीकृति का वरदान ।
वह सुहवा हो, आह्वान-सरला हो,
आकूति देवी का शुभ स्वागत हो ।

अपने मन में प्रविष्ट होती मैं उसको देखूँ ।
जिस दिशा को मैं जाऊँ,
उसी दिशा में साथ रहे, यह चाहूँ ।
मैं ही उसके प्रेम का आलंबन होऊँ,
मैं ही उसका प्रेमपात्र

वह एक-मात्र मेरी ही हो,
वह केवली हो !
आकूति देवी का स्वागत हो ।

२

हे बृहस्पति !
तुम हो अनन्य निष्ठा के देव,
भक्ति के, स्वार्पण के देव,
सूझ-समझदारी के अधिदेव,
जग-पालक, जग-रक्षक देव ।
आओ आकूति सह तुम,
हे बृहस्पति !
आओ न आकूति सह तुम ।
बनाओ हमको सुभग, ऐश्वर्यवान,
करते तुम्हारा हम आह्वान ।
स्वीकार करो यह हवि,
हो जाओ सुहवा ।
स्वीकार करो आह्वान ।

३

मेरे मन की कामनाएँ पूर्ण हों ।
सत्य और सत्य आकूति प्राप्त हो ।
पुष्ट पशु, रसपूर्ण अन्न, यश,
विद्या औ धन की देवी श्री,
सभी प्राप्त हों ।
और इनके सह पूर्ण सम्मान ।

ये सब मुझमें आहुत हों,
मुझमें ये सब स्वाहा हों,
ये सब मुझको प्राप्त हों ।

४

सदा सच्ची भावना मेरे मन में रहे ।
सदा सत्या आकूति मेरे चित्त में बसे !
सर्व यज्ञ हों मेरे लिए,
सर्व हवि का मैं सदा भागी रहूँ,
कभी कोई अपराध न करूँ,
दुर्भाग्य का भागी न बनूँ ।
सदा सच्ची भावना मेरे मन में रहे ।
सदा सत्या आकूति मेरे चित्त में बसे ।
विश्वे देवा हमारा सतर्क अवलोकन करते रहें ।
विश्वे देवा हमारा सत्य पर्यवेक्षण करते रहें ।

(अथर्व वेद का० १६, सू० ४, ऋ० २,३;
यजुर्वेद अध्याय ३६,४; ऋग्वेद मंडल १०, १२८, ४)

{१२५} दिसम्बर, २००७

(विशेष नोट देखिए ।)

अमेरिकन इन्डियन

मैं माटी हूँ इस प्रदेश की पुनीत पुरातन
कहता है जग जिसको इन्डियन, इन्डियन
ठीक बैठता हूँ मैं, हूँ अनुरूप माटी के,
प्राकृतिक परिदृश्य भी हैं अनुरूप हमारे
पुएब्लो वह हो, या हो वह मेसा चट्टान

यह जो सूरजमुखी बन्य हैं, स्वतंत्र हैं न ?
यह जो जंगल में हैं बिसुन, अल्हड़ हैं न ?
ये माताएँ तीन हमारी, जानते हो न ?
स्कवॉश, बीन, मक्का ! देती हैं जीवन-दान
साथ पले हम, हैं ये ही हमरा धन-मान

बदल गया परिदृश्य आज, लुट गया स्वमान
गया जीवन लुट, गँवा दिये अपने अरमान
बेघर भटक रहा, खोया सारा सम्मान
फिर भी मैं माटी हूँ इसकी पुनीत पुरातन

{१२६} दिसम्बर, २००७

(पुएब्लो, मेसा और बिसुन के लिए विशेष नोट देखिए ।)

यह माटी
(अमेरिकन इन्डियनों का गीत)

यह माटी सामान्य नहीं है,
यह, जो दिखाई पड़ती हैं,
यह माटी सामान्य नहीं हैं !
इसके कण कण बने हुए हैं
मेरे पुरखों के शरीर से,
हाड़-मांस से,
जो हैं सिग्चित लाल लहू से !
यह माटी सामान्य नहीं है !

नहीं है यह माँ प्रकृति की धरती की मिट्टी,
यह तो है अस्थि की मिट्टी !
धरती की तह तक पहुँचोगे,
जब खोदोगे नीचे गहरे में !
यह माटी सामान्य नहीं है !

यह ज़मीन जो दिखाई पड़ती है,
यह ज़मीन सामान्य नहीं है ।
इसके कण कण बने हुए हैं,
सने हुए हैं,
मेरे लहू से,
मेरे मृत पुरखों के लहू से,
यह हमारी है पवित्र माटी,

केवल मृतकों की यह माटी,
मृतकों को ही समर्पित है,
उनके लिए सुरक्षित है ।
यह माटी सामान्य नहीं है,
यह, जो दिखाई पड़ती है ।

{१२७} दिसम्बर, २००७

पति और पौधा

पौधे से भी बदतर हूँ मैं ।

देखा था पिछले दिन मैंने,
बड़े प्यार से सींच रही थी पौधे को तुम,
जल नहीं, जैसे पिला रही थी नयनों से दिल को तुम !
कब मेरी बारी आएगी, उदास सोच रहा था मैं
पौधे से भी बदतर हूँ मैं !

होठों पर वह अमृत की मुस्कान, देहयष्टि का कंपन ।
वह सहलाना पत्तों को, गोया संजीवन-रस-सिञ्चन ।
दिल थामे बैठा था उकड़ूँ, ठूँठे पौधे की नाईं मैं ।
पौधे से भी बदतर हूँ मैं ।

कौन कहता है, ईश्वर है ? है, तो डरता क्यों नारी से ?
यज्ञ भाग जो है मेरा, दिलवाता नहीं क्यों छिन पौधे से ?
पति से बढ़कर पौधा निकला, सोच सोच सूख जाता मैं ।
पौधे से भी बदतर हूँ मैं ।

{१२८} मार्च, २००८

हिरनी

यह हिरनी कहाँ से आई, री रामा ।
हिरनी कहाँ से आई ?
खाली था मन का उपवन, रूप-भरती कहाँ से आई, री रामा ।
हिरनी कहाँ से आई ?

जीवन के मधुबन में हिरना
चला अकेला, कोई संग ना
इतने में चौकड़ी भरती को किस बादी से आई, री रामा ।
हिरनी कहाँ से आई ?

पतझड़ ने बहार लूटी थी
चेतन ऊपर बर्फ जमी थी
इतने में मधुगंध समेट बासन्ती कहाँ से आई, री रामा ।
हिरनी कहाँ से आई ?

शीतघात से कराहता मृग
अंधकार में चलता था जग
इतने में स्वर्णिम सुन्दर का लेपन को ले आई, री रामा ।
हिरनी कहाँ से आई ?

{१२६} मार्च, २००८

बसन्त का पैग़ाम

रोबीन ले आया है आख़िर बसन्त का पैग़ाम
युग पहले निकला था, आया अब है अपने धाम

पतझड़ ने रोका था मुझको, रूका रहा उस ठाम
भूला था कर्तव्य मुझे, मैं अंधा था, अनजान
आऊँगा, आकर जग को कर दूँगा मैं अभिराम
रोबीन ले आया है आख़िर बसन्त का पैग़ाम

आते ही जी उठेगा जग-जीवन, यह मेरा काम
प्रकृति फिर सिंगार सजेगी, नूतन का नव नाम
अणु अणु फिर नाच उठेगा, जीवन उत्सव-धाम
रोबीन ले आया है आख़िर बसन्त का पैग़ाम

धरती को रंगीन बना दूँगा, दे नव परिधान
चिड़ियों को चहकाऊँगा, पा सातसुरों का जाम
गगनभेदी स्वर गूँज उठेंगे नवसर्जन के तमाम
रोबीन ले आया है आख़िर बसन्त का पैग़ाम

{१३०} मार्च, २००८

चाँद आसमानी

यह चाँद आसमानी
बादलों के ललचाते-से, लुभावने-से श्याम-श्वेत परिधान में
लुकाछिपी करती यह सुन्दर चाँद आसमानी
बीच बीच अपनी स्मित-रेखा से सूने, ऊने, सोते संसार में
बिखेर देती ये चमकीले तारक अरमानी
अपनी ही लीला से अनजानी
चाँद आसमानी

दुनिया सारी गहरी नींद की बेहोशी में
अपने सपनों की माया की मदहोशी में
नैसर्गिक इस दिव्य खेल से बनी हुई बिलकुल बेगानी
लज्जा-लाली से अनजानी
चाँद आसमानी

इठलाती चंदा की सूरत मस्तानी
मंथर, मोहक अलसायी गति मनमानी
सहज भाव से मानो हो गई लास्य-रूप की रानी
मेरा बौराना, वह अनजानी
चाँद आसमानी

{१३१} मार्च, २००८

मेरा परिचय

मैं नया नहीं, पुराना हूँ, पुराना नहीं पुरातन हूँ
नहीं पहचाना तुमने मुझको ? मैं तो वही सनातन हूँ

सृष्टि थी जब प्रलयलीन, औ' सूक्ष्म तच्च थे स्पन्दन-हीन
किसने बजाई थी धीरे से तब संजीवन-सूक्त-बीन ?
मैं कवि नहीं, नहीं कविता हूँ, मैं साम-संहिता-दर्शन हूँ
मैं नूतन नहीं, पुरातन हूँ

प्रलयोन्मुख थी पृथ्वी अधुना, जब मौन हुआ था धर्म-गान
किसने बचाया था जीवन तब मनुज-दनुज का करके दमन ?
मैं अतीत नहीं, नहीं वर्तमान, मैं कालातीत नवजीवन हूँ
मैं नूतन नहीं, पुरातन हूँ

{१३२} मई, २००८

निदाघ

लो ! निदाघ मनभावन आया
ऊष्मा-स्वर सुखपावन लाया
री ! निदाघ मनभावन आया

चंड ठंड के प्रचंड कोप को,
जो प्रकृति के मृदुल गात को
रोम रोम कंपित करता था,
त्राण उसी का बनकर आया
लो ! निदाघ मनभावन आया

अपराध-बोध ले कर आया, जो
शीत का आधा बन्दी रहा,
जो ऊर्मिबन्ध थे, तोड़ सका
ऋतुराज मुक्त मन नाच उठा
लो ! निदाघ मनभावन आया

संकुचित अम्बर था बैठा
निर्झर चुप जड़-भीत था रहा
खगकुल सहमा मौन था बना
सामगान लो ! गूँज अब उठा
लो ! निदाघ मनभावन आया

गगनाञ्चल का संगीत स्वर्गिक
हरिताञ्चल धरती भी कूजित
बसन्त के प्रस्थान समय, बस !
ग्रीष्म-गान अब गूँज उठा
लो ! निदाघ मन भावन आया

{१३३} जून, २००८

क्षितिज पर

क्षितिज पर खड़ा हूँ
शांति के क्षितिज पर खड़ा हूँ
आप कहेंगे
शांति का भी कोई क्षितिज होता है भला
होता है
मैं कहता हूँ होता है
और एक नहीं
अनेक क्षितिज होते हैं शांति के
और यह है उन अनेकों में से एक
जहाँ मैं खड़ा हूँ

एवरेस्ट पर तो पहुँच गये तुम
पर कौन पहुँचा क्षितिज पर
मैं
एक और अद्वितीय
मैं
शांति के क्षितिज पर
संस्कृति के क्षितिज पर
सभ्यता के क्षितिज पर
मानवता का ध्वज फहराता हुआ
आप कहेंगे
ऐसा भी कोई क्षितिज होता है भला
होता है

मैं कहता हूँ होता है
और एक नहीं
अनेक क्षितिज होते हैं ऐसे
और यह है उन अनेकों में से एक
जहाँ मैं खड़ा हूँ

{१३४} जून, २००८

पत्नी के प्रति सम्बोधि-गान

आज तुम सुन्दर लगती हो
अधिक तुम सुन्दर लगती हो
इतना रूप कहाँ से लाई नया ?
तुम सुन्दर लगती हो
अधिक तुम सुन्दर लगती हो
आज तुम सुन्दर लगती हो

शब्दकोष सब सेवा में हैं हाथ जोड़ कर
उपमानों की भीड़ लगी है घरद्वारे पर
रूप सजाने नानारंगी स्याही तत्पर
खड़ी लेखिनी है मेरी, भुजपत्र भी आतुर
हैं अपूर्ण, मिथ्या ये सचमुच
शक्ति-हीन, अभिव्यक्ति-हीन सब ।
अनुपम लगती हो
आज तुम अद्‌भुत लगती हो
अधिकतर सुन्दर लगती हो
आज तुम सुन्दर लगती हो

भेजे कल्पन-स्पन्दन अवकाशी विश्वों में
कविता के नव मानदंड की परम शोध में
रूप की नई परिभाषा के नव अन्वेषण में
अलंकार औ' उपमानों की खरी खोज में
आये नतमुख, निराश हो कर

असफलता का भार उठा कर ।
अवर्ण्य लगती हो
आज बहिरन्तर फबती हो
अधिकतम सुन्दर लगती हो
आज तुम सुन्दर लगती हो ।

{१३५} जुलाई, २००८

अरूप
(बाँग्ला से अनुवाद)

अरूप ! तुम्हारी बानी
अंग में मेरे, चित्त में मेरे मुक्ति की हो दानी ....

नित्यकालिक उत्सव तव विश्व की दीपालिका
मैं तो मात्र मिट्टीदीप, जलाये उसकी शिखा
चिरकालिक आलोक-दीप्त इच्छा तुम्हारी, स्वामी !.............

जैसे तुम्हारी बसन्त-बायु बने-बने, दिशि-दिशि में
गीत-लिपि तव अंकित करे रंग-पुष्प-पर्ण में
वैसे मेरे प्राण में फूँक दो चेतना तुम्हारी
निज स्वर से पूर्ण कर दो रिक्तता, हे दानी !
बिघ्न उसके शुद्ध-शुचि करे तव दक्षिणपाणि ....

(रवीनद्रनाथ ठाकुर : गीत-वितान-१, १६३१-३२)

{१३६} जुलाई, २००८

मन की द्विधा
(बाँग्ला से अनुवाद)

मन में क्या दुविधा रख के चले गये
उस दिन भरी साँझ को
जाते जाते दुवार से जाने किस सोच में फेर लिया मुख को
क्या बातें रह गई थीं मन में ....

तुम हो कि हँसकर चल दिये नैन-कोने में,
बैठी बैठी मैं सोचूँ ले निज कंपित हृदय को
तुम तो रहे दूर भुवन में ....

आकाश में उड़ती बक-पंक्ति,
बेदना मेरी उसकी साथी,
पूछना तुमसे इतना ही मुझे,
बिदाई बेला तुम कुछ न थे बोले ?
वह सभी रह गया क्या सिक्त जुही की गंध-बेदन में ? .....

(गीत-वितान-१, १६३१-३२)

{१३७} जुलाई, २००८

दिनपाँखी
(बाँग्ला से अनुवाद)

दिनपाँखी मेरे स्वर्ण-पिंजर में ना रहे
वे जो मेरे नाना रंगीन दिनपाँखी
हास्य-रूदन के बंधन वे सह ना सके
वे जो मेरे नाना रंगीन दिन-पाँखी

मेरे प्राण की गान-भाषा
सीखेंगे, थी मेरी आशा
उड़ गये, सकल कथा कह ना सके
वे जो मेरे नाना रंगीन दिन-पाँखी

स्वप्न देखता : जैसे कि आशा से वे
भग्न पिंजर के चहुं ओर घूम रहे
वे जो मेरे नाना रंगीन दिन-पाँखी
यह सब बेदना मिथ्या मेरि क्या ?
हैं ये केवाल छाया-पाखी क्या ?
आकाश के उस पार कुछ भी नहीं ले जा सके,
ले जा सके क्या ?
वे जो मेरे नाना रंगीन दिन-पाँखी

(गीत-वितान-२, १६३१-३२)

{१३८} जुलाई, २००८

बजुरग
(पंजाबी से अनुवाद)

बच बच के बिचर रहे
बजुरग शरीर में
रौनक लगी हुई है
बचपन से जवानी तक
जो जो किया था
फिर से हो रहा है
यादों की दुनिया में,
बजुरग अकेले नहीं हैं ।

कभी की मर चुकी माँ से
ज़ोर ज़ोर से बातें करते
हँसी खुशी की कहानियाँ पाते हैं,
बजुरग अकेले नहीं हैं ।
बीती हुई कल के हम-दम
वर्तमान बन बैठे हैं,
पुरानी जगह, खेत, घर
बजुरग साथ उठाये फिरते हैं,
कभी बालटी में टपकती दूध की धार,
और कभी तो सुनाई देती है
चौराहे पर अपने बाबा के गाये हीर गावन की लय,
तो कभी भरे मेले में बैठे
गप्पें मार रहे हैं,
बजुरग अकेले नहीं हैं ।

{१३६} अगस्त, २००८

हीर गावन : हीर-राँझा की प्रेम-कथा का संकेत है ।
(विशेष नोट देखिए)

पहुनियाँ
(पंजाबी से अनुवाद)

पहुनी लड़कियाँ
घर बीच लगी हैं ढूँढने
पुराने कोलाहल, पुरानी पहिचानें
अपनी किलकिलाती मस्त आवाजें

पहुनी लड़कियाँ
हाथ धरती हुईं अपनी आँखों की कोर पर
देखती हैं घर के कोने-कोने को
परखती हैं अपने कोमल हाथों से हर चीज़ को
रजाइयों, गदेलों, गूँथीं चद्दरों और सिरहानों को

ये लड़कियाँ
बूढ़ी मामी से मिलकर
अपनी दिवंगत माँ की बातें करती हैं
अपने स्वर्गवासी मामा की जीवन-कथा सुनाती है
यों काट देती हैं सारी रात बातों-ही बातों में

पहुनी ये लड़कियाँ
इक-दूजी का सुख-दुःख देखती हैं
कभी आँसू बहाती हैं
कभी खिल-खिलाकर हँस देती हैं
विवाहोत्सव में नाच-नाचकर बौरा जाती हैं
फिर कुरता-चुनरी ले खुश हो जाती हैं

ये पहुनी लड़कियाँ

चली जाएँगी एक-एक कर
हाथ हिलाती हुईं
मुड़-मुड़ के पीछे झाँकती हुईं
हाथों में थमी गठरी सम्हालती हुईं
दुआएँ देतीं
ख़ैर मनातीं
चली जाएँगी
पहुनी लड़कियाँ
पहुनी लड़कियाँ

(सुश्री सुरीन्दर कौर चाहल की पंजाबी कविता का अनुवाद ।)

{१४०} अगस्त, २००८

(विशेष नोट देखिए ।)

बिरह में आत्मैक्य
(मैथिली से अनुवाद)

अनुक्षण माधव माधव सुमिरत सुन्दरी माधव हो गई
अपना भाव-स्वभाव बिसर गई, अपने ही गुण लुभाई

माधव ! अपूर्व तुम्हारा स्नेह
अपने बिरह अपना तनु जर्जर, बचने में भी बड़ा सन्देह

कातर हो प्रातः देखे सखी को, छल छलके पानी
प्रतिक्षण राधा राधा रटती, अस्फुट आधी बानी

राधा समझ बुलावत माधव, माधव के भ्रम राधा
फिर भी न टूटत तीव्र सनेह, बढ़ती बिरह की बाधा

दुहुँ दिशि से जलती लकड़ी पर दग्ध कीट-सी आकुल प्राण
यों पेखत प्रिय को सुधामुखी, कवि विद्यापति करे बखान

(विघापति पदावली)

{१४१} अगस्त, २००८

वर्षा में बिरहिणी राधा
(मैथिली से अनुवाद)

सखि हे ! मेरे दुःख का नहीं ओर
ये भरे बादर, है माह भादर, सूना मंदिर मोर

उछल झपट घन बरसत संतत, भुवन-भरन है बरसत
कंथ बिदेसी, अनंग मिष्ठुर, अविरत खर शर मारत

वज्र के शतपात बिजुरी, फिर भी मयूर नाचते
मत्त दादुर, चहक डाहुक, हृदय को हैं चीरते

तिमिर भरती सघन यामिनी, बिजुरी की चल पंक्तियाँ
विद्यापति कहे, कैसे बिताऊँगी बिन हरि दिन रतियाँ

(विघापति पदावली)

{१४२} अगस्त, २००८

डाहुक : जल-मुरगा, waterfowl

अन्तिम प्रार्थना
(गुजराती से अनुवाद)

हजारों बरस की संचित हमारी वेदनाएँ
कलेजे को छलनी करतीं हमारी भयकथाएँ
रूधिर-धारा मृतक की औ’ नयन-नीर जीवितों के
समर्पित हैं सभी तेरे चरण, प्यारे प्रभु हे !

हमारे यज्ञ का अन्तिम बलि, आमीन कहना
गँवाई थी जो स्वाधीनता पुनः हमको दिलाना
अधिक कुछ मूल्य चाहो तो ज़रूर तुम माँग लेना
हमारे आख़िरी संग्राम में तुम साथ देना

प्रभुजी ! देखना तुम आख़िरी यह युद्ध अब हो
चिताना, युद्ध-कारण में यदि दोषित हम हों
हमारे आँसुओं से, रक्तधारा से धुला है
हमारा सैन्य आशिष माँगता तत्पर खड़ा है

नहीं जाना, हमारे पंथ क्या आफ़त खड़ी है
बस यही जानते, माँ पीड़िता-सी बुला रही है
जीवन माँ का बचे, इस काज शुभ मृत्यु-घड़ी है
हमें क्या फ़िक्र अब, दृष्टि कृपा की तब रही है

भले हो घोर रात्रि, आप दीपक ले खड़े हैं
भले रण में शयन हो, आप गंगाजल लिये हैं
रहें लड़ते, उन्हें रण-खंजरी-गर्जन सुना दो
जो हैं मरते, उन्हें मधु-बंसरी के स्वर सुना दो

{१४३} अगस्त, २००८

(विशेष नोट देखिए ।)

कसुंभिया रंग
(गुजराती से अनुवाद)

लागा कसुंभिया रंग
राज ! हमें लागा कसुंभिया रंग
लागा कसुंभिया रंग
राज ! हमें लागा प्रेम-शौर्य का रंग

जननी के हिरदे में पौढ़न करते करते
पी लिया कसुंभिया रंग
सनेह-सिक्त दूध की धारा में धारा में
पा लिया कसुंभिया रंग
राज ! हमें लागा कसुंभिया रंग

बहिनी के कंठ में से छन के आती
लोरियों में घुटा हुआ रंग
भीषण रात्रि में पहाड़ों के गर्जन में
मिश्रित कसुंभिया रंग
राज ! हमें लागा कसुंभिया रंग

दुनिया के वीरों के ताज़ा बलिदानों में
भभका कसुंभिया रंग
सागर के पार स्वाधीनता की कबरों में
महका कसुंभिया रंग
राज ! हमें लागा कसुंभिया रंग

टपका भक्तों के इकतारों से मस्तीभर
चाखा कसुंभिया रंग

प्यारी दिलदार के पांवों की मेंहदी पर
चूमा कसुंभिया रंग
राज ! हमें लागा कसुंभिया रंग

नवली दुनिया के स्वप्नों में कवियों ने
गाया कसुंभिया रंग
मुक्ति की क्यारी में निज रक्त देनेवालों ने
पाया कसुंभिया रंग
राज ! हमें लागा कसुंभिया रंग

पीड़ित की अश्रु-धार में, हाहाकार में
बहाया कसुंभिया रंग
शहीदों के धधकते एक एक निश्वास में
सुलगा कसुंभिया रंग
राज ! हमें लागा कसुंभिया रंग

धरती के भूखे कंगलों के कपोलों पर
छलका कसुंभिया रंग
बिस्मिल बेटों की अम्माओं के माथे पे
हंसता कसुंभिया रंग
राज ! हमें लागा कसुंभिया रंग

घूट घूट के प्याले भर रखे, हे मनमौजी !
पीना कसुंभिया रंग
दोरंगो को देख डरते यदि, हे टेकी !
पीना कसुंभिया रंग
राज ! हमें लागा कसुंभिया रंग

{१४४} अगस्त, २००८

(विशेष नोट देखिए ।)

कन्दील
(गुजराती से अनुदित)

कन्दील मंद जले
रे ! मेरी कंदील मंद जले

आज गृहे अतिथि आवे
पल पल प्रतिध्वनि पड़े
सकल नगर सोया है, स्वामी !
तेरा स्वागत कौन करे ?
रे ! मेरी कंदील मंद जले

रथ तेरा गरजत गगनांचल
धरती धड़कती रहे
ओ परदेसी ! कहँ देंगे पौढ़न ?
नैनन नीर झरे
रे ! मेरी कंदील मंद जले

''शाम ढले आऊँगा, सजनी'' !
यह कह चला गया
आज युगांतर बीता, अब तेरी
पदध्वनि निकट बजे

शाम ढली, रजनी भी गुज़री
हाय ! प्रभात दिखे
रथ कहां, अतिथि कहां, कहां पूजन ?
नींद में स्वप्न सरे !
रे ! मेरी कंदील मंद जले

{१४५} अगस्त, २००८

(विशेष नोट देखिए ।)

उर्दू कविताएँ

कलामे-रूह

मैं आदमी हूँ, वली का कोई नक़ाब नहीं,
मरीज़ हूँ, हकीम का कोई ख़िताब नहीं ।

कुचल रहा है जहाँ हमको इक ज़माने से,
है तेरी नज़रे-रहम का कोई जवाब नहीं ।

क़बूल, मैं शिया, सुना, जनाब आप सुन्नी,
कि राहे-इश्क़ में मज़हब का कोई हिसाब नहीं ।

सराबे-हस्ती मैं, आबे-हयात आप मेरे,
मैं शोला, आप क्या शबनम का कोई ख़्वाब नहीं ?

फटा है चाक पूरा, कुछ हमें अज़ाब नहीं,
वुजूदो अदम पै तेरे कोई हिजाब नहीं ।

{१४६} १६७२,१६६१

शब्दार्थ : **वली**-सन्त; **सराबे-हस्ती**-अस्तित्व की मरीचिका; **आबे-हयात**-अस्तित्व का जल, अमृत-जल; **अज़ाब**-दुःख; **चाक**-कटा या फटा हुआ स्थान; **वुजूदो अदम**-अस्तित्व और अनस्तित्व; **हिजाब**-पर्दा, लज्जा ।

मच्छर

जब जब जहाँ जाऊँ, वहाँ अपना लिए खंजर
हर मोड़ पर, हर दौड़ पर आते रहे मच्छर

घर तो बराबर साफ़ था, छिड़की दवा भी थी
लाहौल ! मच्छरदानी में घुसते रहे मच्छर

चुनाव की तैयारी की बरखा रूतु आई
हर वोट पीने के लिए उड़ते रहे मच्छर

यह कौन कहता है, हुआ मैलेरिया नाबूद ?
नाला-इ-सियासत में पकते रहे मच्छर

क्यों कर बचाऊँ, आपको ? ये कुरसी के दिलबर
जो जो भी बैठा, काटते-डँसते रहे मच्छर

जा भाग मैं जल्दी अरे ! पहुँचा खुदा के पास
औतार एक नया घरों, मर जायें सब मच्छर

{१४७} मार्च, १६८६

लाहौल : "अल्लाह के सिवा और कोई ताक़त नहीं" । यह शब्द "लाहौल वला कुव्वत इल्ला बिल्लाह" का संक्षिप्त रूप है ।
नाला-इ-सियासत : राजनीति का नाला ।

आज़ाद ग़ज़ल

कूद कूद के हार गया, लांघ न पाया
इक छोटा-सा लम्हा है आपके और मेरे दरमियान

खड़े रह गये आमने-सामने, मिल न पाये
हवा कुछ ऐसी चली आपके और मेरे दरमियान

पतझड़ के पत्ते झड़ते हैं मस्त आलम लिये
उनकी दास्ताँ बिखरी है आपके और मेरे दरमियान

सिग्रेट मैं ज़रूर पिऊँगा, ऐ दर्दे-केन्सर !
दोस्ती रहे या दुश्मनी आपके और मेरे दरमियान

तुम आओ न आओ, ऐ फरिश्ता-ए-मौत !
ड्रग मैं ज़रूर रखूँगा आपके और मेरे दरमियान

कौन कहता कि पियक्कड़ हूँ, या रब !
यह तो है छलकना पैमाने का आपके और मेरे दरमियान

अमन चाहता हूँ, जंग नहीं, ओ जहाने-अरब !
सवाल है सिर्फ ओइल का आपके और मेरे दरमियान

चाहें न चाहें, नंबर एक तो रहेगा अम्रिका ही
किस बात में, यह राज़ रहा आपके और मेरे दरमियान

मंदिर मस्जिद या चर्च बने, क्या फ़र्क़ है, मेरे महरम !
बात वोट की रही पक्की आपके और मेरे दरमियान

काबा जायेंगे ज़रूर, सुन लो, ऐ वायज़ !
किस रास्ते से, यह बात रही आपके और मेरे दरमियान

जो जानते हैं, जानते हैं, नहीं जानते उनका जानना क्या ?
यह गूँगों का राज़ रहा आपके और मेरे दरमियान

ग़ज़लों का क्या ? लिखते रहेंगें, क़लम तोड़ते रहेंगें
मतलब कुछ निकला या नहीं, यह आपके और मेरे दरमियान

{१४८} नवम्बर, १९९२

नोट - विशेष नोट देखिए ।

किरायेदार और मालिके-मकान

खड़े हैं सीतारामजी
बाबरी मस्जिद के आंगन में
ले कर अपना बोरिया बिस्तर
बेसाख की तपती धूप में
कहा मैने :
पालागन जी !
बात क्या है, जो तप रहे हैं उमस में ?
तब बोले सिरी रामचंदर जी :
बरखुरदार !
खाली नहीं करते घर हमारा
यह ज़िद्दी किरायेदार खुदा !
बीत गये हैं कोई चार सौ साल
मगर नाम नहीं लेते टलने का, यह खुदा !

तब कहा मैने सीता जी से :
जै हो सीता मैया की !
परेशाँ क्यों हो रही हैं आप बेकार में,
बेसाख की इस तपती दुपहरी में ?
नज़दीक ही है एक अच्छा सा मकान,
ले चलिए राम जी को वहाँ
और रहिए चैन से उसमें ।

मगर नारी हठ होती है न !
और सीता जी भी तो नारी हैं न ।
नहीं,

रसोई करूँगी तो,
सीता-रसोई में ही ।
और राम जी तो कम नहीं ।

जैसे ही पहुँचा मैं अल्लाह मियाँ के हुजूर में,
साफ साफ बोल दिया उन्होनें अपनी अकड़ में
यह है मेरा मकान,
न मैं किरायेदार हूँ
न राम मालिके-मकान !

पसोपेश में पड़ गया अब बेचारा मैं !
फिर अचानक एक बात उठी मन में,
बोला :
उतना बड़ा है यह मकान,
तीनों की रिहाइश इसमें बड़ी आसान ।
आप तीनों अगर चाहें,
साथ-साथ रहना तो है आसान ।
अगर सच कहें,
रह तो रहे हैं आप एक ही मकान में
जब से बना है यह जहान ।
न कोई किरायेदार
न कोई मालिके-मकान,
सब का मस्कन है सारा जहान ।।

{१४६} फरवरी, १९९३

मस्कन : घर

नाकाम इश्क़

कुछ भी खोया नहीं, तब भी सभी खोया ही गया
दिल तो है सबूत पर, मता-इ-दिल लूटा ही गया

चाह थी, खोल वह पर्दे-नज़र मिहमाँ ही बनूँ
पहरे थे अब्रू के कड़े, नहीं जाया ही गया

उस शहद के समंदर का न मिला इक क़तरा
क़तरा-इ-खूँ को सितमगर कोई पिला ही गया

इश्क़ का नाम न लो, लफ़्ज़ से डरता हूँ, अज़ीज़ !
इक इन्सान हूँ, इन्सान भी माना न गया

दे दिया तुमको यह चिराग़े-दिल, मेरे हमदम !
यह सलामत अँधेरा सारा घर जला ही गया

अब ज़रा सब्र करो, सहरे-इश्क अब होगी
यह कलाम सुनते क़यामत का दिवस आ ही गया

{१५०} सितम्बर, १९९३

मता-इ-दिल : दिल की दौलत
अब्रू : भौंहें
क़तरा-इ-खूँ : खून की बूँद
अज़ीज़ : प्रिय
सहरे-इश्क : इश्क़ की सुबह
कलाम : बात, वचन

नाक़बूलियत

लगी है आज मेरी जिस्मो-रूह में
कहता हूँ, बारिश में नहा रहा हूँ

काँपता है रोआँ रोआँ मेरा सर्दी से
कहता हूँ मारे-गरमी जल रहा हूँ

दुःख दावानल फैला है ज़िन्दगी में
कहता हूँ, मौजे-दरिया में तिर रहा हूँ

चाहती हैं निकलना आहें लबों से
कहता हूँ, ख़ामोश ! नमाज़ पढ़ रहा हूँ

उठ गई रूह तो कबकी इस जिस्म से
कहता हूँ, क़ज़ा में जान फूँक रहा हूँ

{१५१} अप्रैल, १९९४

दिल का सिलसिला

दिल का क्या है सिलसिला ! कब जल उठा, बुझ गया !

दिल तो नहीं चिराग़, जिसको शाम हुई कि जलाया,
जलता रखा रातभर, सुबह हुई कि बुझाया ।
दिल तो नहीं क़न्दील, जिसको बाती बदल के जलाया,
जलता रखा अँधेरे में, हुआ उजाला, बुझाया ।
तेल की कमीबेशी से, भाई ! दिल का क्या सिलसिला ?
दिल का क्या है सिलसिला ! कब जल उठा, बुझ गया !

दिल का है प्रोग्राम क्या ! कब जी उठा, मर गया !
दिल है दिल, कंप्यूटर नहीं, कि कल दबाई , चलाया,
चलता रखा जितना चाहो, मरज़ी हुई, बन्द किया ।
दिल कंप्यूटर-चिप भी नहीं, बिगड़ी, बदल के चलाया ।
प्रोग्रामों की कमीबेशी से दिल का क्या सिलसिला ?
दिल का क्या है सिलसिला ! कब जल उठा, बुझ गया ।

{१५२} अक्तूबर, १९९४

ये औरत जीव

यह औरत भी एक बला है ।
है तो बड़ी ख़ूबसुरत,
मगर है ग़ज़ब की बला ।
ऐसी बला,
जिसे न टालते बनता है, न पालते ।
मिठाई का वह टुकड़ा,
जिसे न बिन खाये बनता है, न बिन बदहज़मी किये ।
दिल ही दिल है उसके पास
जो बन जाता है पल में परमाणु
और दूजे ही पल में परमाणु-बम,
जिससे हो जाता है शौहर का दिल बेचारा खंडहर
जल जल कर !

आते रहते हैं बस
उफनाव ही उसमें ।
ज्वार-भाटा जज़्बातों का,
ऊर्मियों का
भावनाओं का ।
पल में तोला, पल में माशा ।
मर्द जो कहता है सीधा,
लगता है उसको उल्टा ।

मगर दिल तो होता है मर्द के भी,
आते रहते हैं उफनाव उस दिल में भी !

लेकिन भेजा भी तो होता है उसके,
जो सोचता है, समझता है ।
काश !
एक आधा टूकड़ा भी भेजा होता तो,
सोच सकते
ये औरत जीव ।

अब आप कहेंगें, जनाब !
ख़ैरियत नहीं है आपकी,
गर सुन गया आप का यह कलाम
कोई औरत जीव !
तो हम कहेंगें, जनाब !
चले जायेंगे खुदा के मुक़ाम,
वहाँ तो नहीं होगा
कोई औरत जीव ।

{१५३} १९९५

बरसाती आग

ग़ज़ब हुआ लो बरस पड़ी है बदरी मुझ पर
क़तरा क़तरा अगन सजी है बदरी मुझ पर

बरसा की पहली बूँदें चिनगारी निकली
शोलों की सारी पहनाती बदरी मुझ पर

कैसी माया ? रोम रोम पर जलतीं बूँदें
क़ातिल कीड़े रेंग रहे दुखियारी मुझ पर

क्यों बतलायें हम किसी को दिल के फफोले
ले-देने की छिपी निशानी न्यारी मुझ पर

आंसू में छिप छिप के जियरा जाता सजनि
गुपचुप आई मौत की पाती प्यारी मुझ पर

ये किसकी लाशें ढलतीं ? मेरी अपनी ही
क़तरा क़तरा फेंक रही यह बदरी मुझ पर

बदरी को बोलो मत बरसे बदरी मुझ पर
ग़ज़ब हुआ, यह ग़ज़ब ढा रही बदरी मुझ पर ।।

{१५४} फरवरी, १९६५

उर्दू

सर-आँखों पर बिठलाते अपने हम ले कर उर्दू
प्यारी ज़बाँ है हमारी यह सरहिन्द की बोली उर्दू
बड़ा पुराना लिटरेचर, मीठी जोशीली उर्दू
सारे भारत की प्यारी, ना समझो उर्दू उर्दू ।

एक पड़ोसी ने फरमाया, बोली उसकी उर्दू
कश्मीरा उनको दे दो, वर्ना होगी वह उर्दू ।
हाथों में पकड़ा बम छीन लिया बीच उर्दू
कश्मीरा ने छोड़ा उस पर, भागे उर्दू उर्दू ।

फिर आया ख़ादिम एक इन्सान ज़बाँ ले उर्दू
बोला, बोली है प्यारी मतवारी हमारी उर्दू
हक़ नहीं क्रिस्तानी-हिन्दू का, है इस्लामी उर्दू ।
बोली उर्दू, नहीं मज़हब की, मैं हूँ सबकी उर्दू ।

तुम महलों में रमते हो, कुटिया हमारी है उर्दू
शानबान से बैठे तुम, मज़दूर बने हम उर्दू
तुम बन बैठे मिलियनेर, हमरी मज़दूरी उर्दू ।
ग़र बदलोगे नहीं, जाओगे बन तुम उर्दू उर्दू ।

सरकारें हैं या तवाइफें ये ? बैठी है बीच उर्दू ।
मज़हब औ' ईमान, वोट सब करके बैठी उर्दू ।
अब भी जागो, चेतो, छोड़ो गोरखधंधा उर्दू
नंगा कर देगी जनता वरना सब उर्दू उर्दू ।

{१५५} फरवरी, १६६७

उर्दू : (१) बाज़ार (२) बाज़ार की बोली ; **सरहिन्द** : पूरा भारत ; **ख़ादिम** : (१) सेवक (२) इस्लामी धर्मस्थान का अधिकारी ।

आइना-ए-ग़ज़ल

देखा है जब से तुमको, यह दिल मेरा नाशाद है,
चाहा है जब से तुमको, यह दिल मेरा फरहाद है ।

अंधी गली में है पड़ा यह दिल तुम्हारे इश्क़ की,
हीर-राँझा की जहाँ में कम नहीं तादाद है ।

इश्क़ सच्चा, इश्क झूठा, बहस बेमीआद है,
ना जिलाता, मौत देता, दिल तेरा बेबाक है ।

है लिए कंदील नन्हीं हूँ खड़ा मैं रातभर,
तू जला चाहे बुझा, बस ! दिल मेरा बेताब है ।

छोड़ शोख़ी, देख ख़ुद को आइना-ए-ग़ज़ल में,
दिल के भीतर ही तुम्हारे दिल मेरा आबाद है ।

{१५६} जनवरी, १९९८

मुकर्रर मंज़िल

मुझको अब यहाँ नहीं होना चाहिए
वक़्त को फ़िज़ूल नहीं खोना चाहिए
बिलकुल गुमनाम ही हो जाना चाहिए
जल्द ही अल्‌बिदा कह देना चाहिए

रात भली, सूरज की रोशनी नहीं चाहिए
सूरज को काजल लगाना ही चाहिए
दुनिया का यह दस्तूर स्वीकारना ही चाहिए
बिन आहट जहाँ से हट जाना ही चाहिए

ज़िन्दगी को चैन से जीने देना चाहिए
राह का रोड़ा अब नहीं बनना चाहिए
हयाती की हवस अब छोड़ देना चाहिए
मौत को मुकर्रर मंज़िल बनाना चाहिए

जितना जल्द हो बिस्तर खोलना चाहिए
उस पर फिर आराम से सो जाना चाहिए

{१५७} २००१-२०१८

वक़्त

वक़्त कुछ ऐसा है, जगह कुछ ऐसी है
चुप कुछ बैठा हूँ, वजह कुछ ऐसी है

क्यों नहीं होती रूदादे-इश्क अरे ! हमसे ?
खोल नहीं पाता, गिरह कुछ ऐसी है

ढूँढ़ रहा था जिसको मैं सदियों के ढेरों में
वह पल नहीं मिलता, निगह कुछ ऐसी है

बोया आबोगिल से मैंने यह छोटा-सा नग़मा
पनप नहीं पाता, सतह कुछ ऐसी है

रब को छोड़ बना अनल हक़ अपनी मस्ती में
समझा नहीं सकता, फ़रह कुछ ऐसी है

{१५८} फरवरी, २००२

रूदादे-इश्क : प्रेम की कथा या रपट
गिरह : गांठ, समस्या
आबोगिल : दुनिया बनाने के दो तत्व, पानी और मिट्टी
अनल हक़ : मैं सत्य हूँ, मैं ईश्वर हूँ
फ़रह : खुशी, आनंद

ज़िन्दगी के बदलते पहलू

पुरानी यादें नई बन आती हैं
गहरे पानी में पैठ लगाती हैं
आँखों की मिट्टी को नम बनाती हैं

इन्सान को इन्सान की पहचान थी
मुफ़लिसी में भी बखूबी शान थी
दिलों का दिलों से रिश्ता था
सचाई का सचाई से वास्ता था
बीते पल छू कर छिप जाते हैं, नज़ारा भी नहीं कर सकता
फ़िज़ाँ को ले गुज़र जाते हैं, गवारा भी नहीं कर सकता

इस आग में जलना मनाही नहीं
पर जलने से यह बुझेगी भी नहीं
इस बारिश में भीगना मनाही नहीं
पर भीगने से सुकूँ मिलेगा भी नहीं
इन्सान का दिल संगे-लोह हो गया है, पिघलाया नहीं जा सकता
इन्सान का दिल गुमराह हो गया है, राहे-रास्त पर नहीं आ सकता

जहाँ में शोरोगुल फ़ैला है
ख़ामोशी को कोई सुनता ही नहीं
मुँह खोलना भी यहाँ गुनाह है
मौत भी तो अब बची पनाह है
बेगुनाह घिरे हैं पिंजड़े को, गुनहगार मैं भीतर खड़ा हूँ
अदल कबका सुनाया गया है, तराजू ले हाथ खड़ा हूँ

{१५६} जुलाई-अगस्त, २००३

राहे-रास्त : सीधा-सरल और सही मार्ग ; **संगे-लोह** : क़ब्र पर लगा पत्थर ; **अदल** : इन्साफ

नग़मा

जब हम भी तो दिल रखते थे
तस्वीर हमारी अनोखी थी
मीलों तक बातें होती थीं
मीठी रूसवाई होती थी

हैं याद हमें अब तक वे दिन
वे रातें कैसे कटती थीं
हो जाते जिन पर सब कुरबाँ
वे अदाएँ हम पर मरती थीं

अपने मासूम इशारों से
मदभरी नज़र से छलकाते
वह कभी न खूटने वाली सी
हाला के प्याले भरती थी

दाता बन कर दे डाला दिल
होशोहवास की बात न थी
खाली मकान-सा अब यह दिल
जिसमें बसती इक बस्ती थी

रिन्दों का शोर गुम-शुदा हुआ
पैमाने प्याले ढूँढ़ते हैं
मरघट-सी मुर्दनी छाई है
मधुशाला जहाँ महकती थी

{१६०} नवंबर, २००३

रिन्द : धर्म के बंधनों को न मानने वाला; **गुमशुदा** : जो खो गया हो

नकामी

आँखों का प्यार भी खो बैठा,
क्या हाल तू अपना कर बैठा

उम्मीदों का ताबूत रचा
उसके भी कण-कण कर बैठा

दरिया-ए-दिल की शेखी पर
छिछला नाला तू बन बैठा

आया लम्हा तू जी न सका
कल से तू मुहब्बत कर बैठा

बनता-फिरता पीने वाला
एक बूँद भी जाम में भर न सका

अब मौत से उम्मीद रखता है
ज़िन्दगी को अपनी कर न सका

{१६१} २००६

ग़ज़ले-रूह

खुशी खुशी अब जा रहा हूँ
ग़ज़ले-रूह सुना रहा हूँ

एक मिसरा गा गया हूँ
दूसरा अब गा रहा हूँ

नज़्म जीवन की अधूरी
पूरी अब कर पा रहा हूँ

वक़्त को ठहरा के थोड़ा
लम्हे कुछ ले जा रहा हूँ

कर न शिकवा कोई, हमदम
दे दुआएँ पा रहा हूँ

यह ग़मे-हस्ती भला क्यों ?
प्राण तो दे जा रहा हूँ

ज़िन्दगी भर जो न छोड़ा
दे तसव्वुफ़ जा रहा हूँ

बाद मदफन चुप न सोया
क़ब्र में भी गा रहा हूँ

{१६२} अप्रैल, २००५

विशेष नोट

क्रमांक	शीर्षक	नोट
१५	एक कबीर नहीं बना सकते?	अन्तरष्ट्रीय हिन्दी समिति, यु०एस०ए० के रोचेस्टर (न्युयोर्क) अधिवेशन में प्रस्तुत ।
२०-२२	मृत्युसूक्त, १,२,३	क्षितिज (यु०एस०ए०), अगस्त, २००४
३२	नारी	रोचेस्टर अधिवेशन में प्रस्तुत, विश्वा अप्रैल-जून,२०२० में प्रकाशित (पृ० ४६)
३३	ख़ुद का खोना	विश्वा (यु०एस०ए०), जुलाई,२००२
३४	कवि	सिरेक्युस (न्युयोर्क) की कवि-गोष्ठि में प्रस्तुत
४३	सती	विश्वा, जुलाई, १९९८
४४	बर्फ़ से	सिरेक्युस की कविगोष्ठि में प्रस्तुत; 'अभिव्यक्ति' की वेबसाइट पर
५४	किसी पार्क में महात्मा.....	विश्वा, जनवरी, १९९८
६१	उत्तर-पूर्वीय अमेरिका में बसन्त	उत्तर-पूर्वीय (North-East)अमेरिका में बसन्त के कुछ दिन जाड़े (Winter) का और कुछ दिन गर्मी (Summer) का हिस्सा होते हैं ।
६८	दो गुरूओं का संमिलन	सन् १७१८ के बाद दोनों ग्रहों का निकटतम आना । मंगल, बिछुआ (Scorpion) पारिजात इत्यादि विविध ग्रह एवम् नक्षत्र ।
७६	भारत और पाकीस्तान के प्रति	विश्वा, जुलाई-अक्तूबर, २०००, पृ० ३६
७८	अणुशस्त्र	विश्वा, जनवरी, २००३, पृ० ६, (क्रमांक ७३ से ८१ की कविताएँ कार्गिल काण्ड के बाद लिखी गई हैं ।)
८६	एलियन गन्ज़ालेस	Elian Gonzalesसन् २००० में क्युबा से अमेरिका में अवैध रीति से आने हेतु आती एक नाव समंदर में पलट गई थी । छह वर्षीय एलियन की माता डूब

		गई थी । शिशु फ्लोरिडा में लाया गया । उसको अमेरिका में रखा जाये या वापस भेजा जाय, इस प्रश्न पर गजग्राह हुआ था । आख़िर फेडरल सरकार के मार्शलों ने सशस्त्र हमला कर उसे ले लिया और क्युबा वापिस भेज दिया था ।
११६	धरती का गान (Song of the Earth)	Native American Songs and Poems, १९९५
१२४	मेधा	वैदिक मेधा की परिकल्पना आधुनिक मेधा की परिकल्पना से अधिक व्याप्त है । चितिशक्ति अथवा परम बुद्धि का मूर्तिकिरण मेधा है । Intelligence and Mental Power Personified. विश्वा, अप्रेल-जून २०२० के अंक में प्रकाशित पृ० ४८
१२५	आकूति	वेदकालीन ऋषियों की एक अनूठी और अद्वितीय परिकल्पना(Concept)आकूति मनुष्य की सूझ(Penetrating insight), समझदारी (Understanding)और सयानेपन (Wisdom)की देवी है । बृहस्पति(Jupiter), इस जगत के पालयिता (nurturing deity maintaining)देव

एलियन गन्ज़ालेस

८६ः एलियन गन्जालेस (Elian Ganzales)

सन् २००० में क्यूबा से अमेरिका में अवैध रीति से घुस जाने हेतु क्यूबन लोगों से भरी हुई एक नावसमंदर में पलट गई, डूब गई, जिसके कारण अधिकतर यात्रिक डूब गये । उस नाव में एलियन गन्ज़ालेस नाम का एक छह वर्षीय बालक भी अपनी माँ के साथ आ रहा था। उसकी माँ डूब गई । इधर फ्लोरिडा राज्य में उस शिशु को लेकर काफी गहमागहमी हुई । फ्लोरिडा में बसे क्यूबा-निवासी उसे क्यूबा वापस नहीं भेजना

चाहते थे । उन्होंने उसकी रक्षा के लिये उसे एक सुरक्षित घर में रखा और वे पहरा देने लगे । परन्तु फेडरल सरकार के मार्शलों ने सशस्त्र हमला कर एलियन को ले लिया और क्यूबा वापस भेज दिया ।

६८: दो गुरूओं का संमिलन, १-२

१९९७ में आकाश-दर्शन करते समय गुरू और शुक्र के ग्रहों को परस्पर ठीक ठीक निकट पाया, तब भी परस्पर से अधिक दूर रहे । १९९९ में तो वे परस्पर के इतने निकट आ गये कि जैसे मिल गये हों ।

हिरन-मृग शीर्ष; **व्याध**-व्याध का तारा; **हंस**-Swan; **मंगल**-मंगल का ग्रह; **बिछुआ**-Scorpian; **पारिजात**-बिच्छू में पारिजात का तारा होता है ।

६९: शान्ति-मंत्र का गान- 'अभिव्यक्ति' इन्टरनेट वेब साइट पर

१२४: मेधा

मेधा और आकूति के सूक्तों का अनुवाद इस प्रकार किया गया है, जिससे वैदिक समय में शब्दों के जो प्रचलित या रूढ़ अर्थ होते थे, वे स्पष्ट हो जायें । वैदिक शब्दों को ज्यों का त्यों रखने से अनुवाद संक्षिप्त तो हो जाता है, और अनुवादक का कार्य भी तो सरल हो जाता है, किन्तु सूक्तों का अर्थ स्पष्ट नहीं हो पाता । उदाहरण के अनुसार मेधा को 'प्रथमा' कहा गया है, जिसका अर्थ 'सर्व प्रथम' भी होता है, और 'सर्वोतम' भी, 'सर्वाधार भी' ! इसके और अर्थ भी हैं ।

चितिशक्ति अथवा परम बुद्धि का मूर्तीकरण या मानवीयकरण (देवी करण !) मेधा है: Intelligence and mental power personified. परन्तु इस सूक्त की कुछ ऋचाओं के द्वारा यह समझ में आता है कि वैदिक मेधा की परिकल्पना आधुनिक मेधा की परिकल्पना से अधिक व्याप्त है ।

हमें यह भी याद रखना चाहिए कि वैदिक संस्कृत में उदात, अनुदात और स्वरित, ये तीन स्वरभार (Pitch accent) होने के कारण अर्थ में परिवर्तन हो जाता है, अतः एक ठीक ठीक अर्थप्रप्ति के लिए स्वरभार लिखे हुए होने चाहिए ।

१२५ः आकूति

वेदकालीन ऋषियों की यह एक अनूठी और अद्वितीय कल्पना है । आकूति की संकल्पना या परिकल्पना (Concept) को समझना/समझाना अत्यंत कठिन है । अनुवाद करना तो और कठिन है । वैसे नाम होने के कारण अनुवाद करने की आवश्यकता नहीं है ।

आकूति मनुष्य की सूझ, समझदारी और सद्बुद्धि (Understanding Wisdom) की देवी है । आकूति मनुष्य की संकल्प-शक्ति और सन्मति की देवी है । मनुष्य की इन भावनाओं का अथवा शक्ति का मूर्त स्वरूप (Personification) है । आकूति के प्रसादन से मनुष्य को जीवन के रहस्य समझ में आते हैं, उसकी संकल्प-शक्ति बढ़ती है, आंतरिक या अन्दरूनी या आत्मिक सूझ और समझदारी बढ़ती है, और उसको सुख-समृद्धि और ऐश्वर्य और सम्मान मिलता है।

बृहस्पति भक्ति, श्रद्धा और निष्ठा के देव हैं । ये अनन्य भाव और स्वार्पण के देव हैं, सूझ-समझदारी (Wisdom & Eloquence) के देव हैं । इतना ही नहीं, वे इस महान जगत के पाता या पालयिता देव हैं । ऋचाओं को पढ़ने पर ऐसा लगता है कि वे आकूति देवी के भी अधिष्ठाता हैं, अतः उन्ही के कारण आकूति देवी भी प्रसन्न होती है।

केवली : एक मात्र प्रेमिका

क्रमांक	शीर्षक	नोट
१२६,१२७	अमेरिकन इन्डियन और यह माटी	पिछली शताब्दी तक यहाँ के मूल निवासी लोगों के गान (native Indians) ऐसे ही होते थे । **पुएब्लो** (Pueblo) : एक प्रकार का सामुदायिक और पंचायती गाँव । **मेसा** : कोलोरेडो में Mega Verde National Park की चट्टानों पर बने हुए घर । **बिसन**, Bison: जंगली अमेरिकन और यूरोपियन भैंस ।
१३६	बजुरग	सुश्री सुरीन्दर जी कौर चाहल के २००८ में प्रकाशित पंजाबी कविता-संग्रह कुंजिआँ में से । ये पंजाबी

		कवयित्रियों में बहुत प्रसिद्ध और प्रतिष्ठित हैं । आपकी पुस्तक की एक सुन्दर समीक्षा Hindustan Times के अंक में Ode to the Punjabi Woman शीर्षक से प्रकाशित हुई है ।
१४०	पहुनी लड़कियाँ	कुंजिआँ, २००८
१४३	अन्तिम प्रार्थना	क्रमांक १४३,१४४ और १४५ गुजराती के लब्ध प्रतिष्ठित कवि श्री. झवेरचंद मेघाणी, जिनको महात्मा गांधी ने ‘‘राष्ट्रीय शायर’’ का बिरूद दिया, की कविताओं के अनुवाद हैं । गज़लकार शायर गनी दहीवाला के शब्दों में : (गुजराती से अनुवाद) अजब साहित्य का परोस गया रसथाल, मेघाणी। नई शैली, नये छंद, निराले स्वर, मेघाणी । युगवन्दना, १३२५
१४४	कसुंभिया रंग	युगवन्दना, १६३५
१४५	कन्दील	युगवन्दना, १६३५
१४६	कलामे-रूह	नवम्बर, १६६२ में पाकीस्तान एसोशियन के मुशायरे में पेश ।
१४८	आज़ाद ग़ज़ल	पाकीस्तान एसोशियन, मुशायरा, १६६६. सन् १६८० के वर्षों में बम्बई, महाराष्ट्र और मध्यप्रदेश के कुछ शायरों ने ग़ज़लों के अरबी छन्दों की आवश्यकता का नियम न पालने का निश्चय किया था, किन्तु रदीफ़-क़ाफ़िया को ज़रूरी समझ कर जो ग़ज़लें लिखीं, उनको उन्होंने ‘आज़ाद ग़ज़ल’ की संज्ञा दी ।
१५०	नाकाम इश्क़	क्षितिज, दिसंबर, २००४
१५४	बरसाती आग	विश्वा, जुलाई, १६६५

कविताओं की प्रथम पंक्तियों की सूचि
(क्रमांक के साथ)

नोट
(पाठकों के लिए)